भारत: राष्ट्र-राज्य एवं सांस्कृतिक विविधता

संपादन
अनिल चौधरी

भारत :
राष्ट्र–राज्य एवं सांस्कृतिक विविधता

• स्कूल टीचर्स के लिए पठन सामग्री

संपादन
अनिल चौधरी

- इस पुस्तिका में प्रकाशित सामग्री कापीराइट प्रतिबंधों से मुक्त है। इस सामग्री की प्रतियां कराने, वितरित करने या इस्तेमाल करने पर किसी तरह की बंदिश नहीं है।

कवर डिज़ाइन एवं लेआउट
अखिल श्रीवास्तव

मुद्रक:
डिजाइन्स एण्ड डाइमेंशंस
एल/5–ए, शेख सराय, फेज–2
नई दिल्ली–110017
मोबा: 9810686122

प्रकाशक:
पीस
ए–124/6, कटवारिया सराय, नई दिल्ली
फोन: 011–26968121/26858940
ईमेल: peaceact@vsnl.com

वर्ष: 2011

भारत

अनुक्रम

	भूमिका	004
1.	भारतः राज्य, राष्ट्र और राष्ट्र–राज्य	008
2.	भारत में लोकतंत्र	030
3.	भारत में धर्म–निरपेक्षता	050
4.	भारतीय संस्कृति : एक परिचय	072
5.	धार्मिक एवं सांस्कृतिक विविधता	098
6.	अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक एवं मुख्य धारा	114
7.	हिंसा एवं शांति	136
8.	विवाद एवं बातचीत	176

भूमिका

भारत एक धार्मिक, सांस्कृतिक तथा भाषायी विभिन्नताओं वाला देश रहा है और है। इसके साथ ही साथ भारतीय समाज में कायम यह विभिन्नतायें इसकी विशेषता हैं। विभिन्नताओं की इन विशिष्टताओं के रहते भारतीय समाज में समय–समय पर सामाजिक विकास की सकारात्मक धाराओं को आगे ले जाने की चुनौतियाँ भी मौजूद रही हैं जो आज भी कायम हैं।

इन्ही चुनौतियों में एक प्रमुख चुनौती है स्कूलों में पढ़ने–पढ़ाने के दरम्यान आने वाली बाधायें, जो सांस्कृतिक, धार्मिक विशिष्टताओं के नाते स्कूल टीचर्स के सामने आती हैं। अलग–अलग परिवेश से आने वाले विद्यार्थियों, जो संस्कृति तथा धर्म के आधार पर अपनी अलग–अलग विशेषतायें रखते हैं, को स्कूल में एक साथ पढ़ाने में कुछ व्यावहारिक दिक्कतें आती हैं और सामान्यतया इनके प्रति संवेदनशीलता नहीं बरती जाती। स्कूल टीचर भी इसी समाज के अभिन्न हिस्से हैं और इसी समाज के परिवेश में पले, पढ़े तथा बढ़े हैं अतएव उनके ऊपर भी अलग–अलग सांस्कृतिक–धार्मिक मूल्यों, गुणों का प्रभाव एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

इन हालात को देखते हुए भारत में धर्मनिरपेक्षता के मूल्य को सशक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि स्कूल के स्तर से ही इस पर पहल शुरू की जाय। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर 'पीस' ने एक ऐसे 'ट्रेनिंग माड्यूल' तथा 'पठन सामग्री' का निर्माण किया है जिससे यह जाना समझा जा सके कि विद्यार्थियों एवं विशेष तौर पर 'अल्पसंख्यक समुदाय से आने वाले विद्यार्थियों' को

स्कूल में पढ़ाते समय किस किस तरह की बाधायें आती हैं तथा इसमें टीचर्स की क्या भूमिका होती है? इस समस्या को गहराई से समझने के बाद इसके निवारण के लिए किस प्रकार का 'शैक्षणिक हस्तक्षेप' किया जाय, यह हमारे उद्‌देश्यों में शामिल है।

हमारी यह भी कोशिश है कि इस प्रयास के अंतर्गत स्कूल टीचर्स के बीच लोकतांत्रिक एवं धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को स्थापित तथा सशक्त किया जाय।

'अनुभव आधारित सीखने सिखाने की चक्रीय पद्धति' को आधार बनाकर 'सहभागिता' को केन्द्र में रखकर यह माड्‌यूल विकसित किया गया है तथा इसमें सम्बन्धित विषयों पर स्पष्टता लाने के लिए कुछ पठन सामग्री भी उपलब्ध करायी गयी है।

इस ट्रेनिंग माड्‌यूल के साथ जो पाठ्‌य सामग्री (संदर्भ सामग्री) तैयार की गई है उसको अन्तिम रूप देने से पहले होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) में आयोजित विचार विमर्श में गंभीर बहस की गयी। इस विचार विमर्श में स्कूल टीचर्स, शिक्षाविद, सामाजिक कार्यकर्ता तथा शिक्षा के मुद्‌दे पर कार्य करने वाले संगठनों के प्रतिनिधियों, कुल 140 लोगों ने शिरकत की। बहस के दौरान आये महत्वपूर्ण सुझावों को इन संदर्भ सामग्रियों में शामिल करके इसे और बेहतर बनाने का प्रयास किया गया है।

राजस्थान एवं दिल्ली के स्कूलों के पाठ्‌यक्रमों में कुछ गंभीर दुराग्रह पूर्ण एवं भ्रामक तथ्य मौजूद हैं अतएव इन राज्यों के स्कूलों का चुनाव पहले दौर में हमने किया।

इसके लिए हमने राजस्थान एवं दिल्ली के स्कूलों तथा समाजसेवी संगठनों द्वारा चलाये जा रहे स्कूलों के टीचर्स के साथ कार्यशालायें आयोजित करके इस विषय को गहराई से समझने का प्रयास किया। विकसित किये गये ट्रेनिंग माड्‌यूल एंव पठन सामग्री की प्रभावशीलता के बारे में इन्हीं टीचर्स के बीच कार्यशाला

आयोजित करके इनकी गुणवत्ता का मूल्यांकन भी किया गया। इस मूल्यांकन कार्यशाला में बहुत से महत्वपूर्ण सुझाव आये जिन्हें हमने मसौदे में शामिल किया।

इस पूरी प्रक्रिया को पूरा करने में समाजसेवी संगठनों, स्कूल टीचर्स, शिक्षाविदों का योगदान अमूल्य रहा है। जयपुर के राजकीय बालिका उच्च प्राथमिक विद्यालय, मोतीकटला, राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय, घाटगेट, राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय, आदर्श नगर, राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय, बाबू का टीला, राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय, मुरलीमनोहर जी, राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय, बाड बागपुरा चाकसू, राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय, बडली, राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय, संवलिया, रहमानी मॉडल सीनियर सैकण्डरी स्कूल रामगंज के साथ ही साथ जयपुर (राजस्थान) के सामाजिक, नागरिक संगठनों दिगन्तर, संभव, बीजीवीएस, विहान, पीयूसीएल तथा दिल्ली के समर फील्ड स्कूल, द बनयान ट्री स्कूल, सेंट पाल डी. स्कूल, दिल्ली पब्लिक स्कूल, मथुरा रोड, के.आर. मंगलम वर्ल्ड स्कूल, कारमेल कानवेंट स्कूल, डी.एल.एफ. पब्लिक स्कूल, प्रेजेन्टेशन कानवेंट सीनियर सेकेण्डरी स्कूल, दिल्ली पब्लिक स्कूल एस.जे. इन्क्लेव, टैगोर इन्टरनेशनल स्कूल, न्यू होराइजन स्कूल, दीपालय स्कूल, दीपालय फार्मल स्कूल, एअरफोर्स बालभारती स्कूल, संस्कृति स्कूल, दिल्ली पुलिस स्कूल, नवजागृति कलेक्टिव आदि स्कूलों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। मैं इन स्कूलों के टीचर्स, प्रबंधकों, प्रधानाचार्यों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। साथ ही साथ सामाजिक संगठनों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, शिक्षाविदों तथा शिक्षा के मुद्दे पर कार्य करने वाले विद्वानों जिनके सहयोग के बिना यह कार्य संभव न हो पाता, के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

और अन्त में मैं सलाहकार परिषद के टी.के. ओमेन, अजय कुमार, पूर्वा भारद्वाज, इम्तियाज अहमद, कविता श्रीवास्तव, अनुराधा सेन, मुकुल प्रिया, अपूर्वानन्द, अच्युत याज्ञनिक, अशोक माथुर, इश्तियाक अहमद, विनोद रैना, एन.के. रैना, गीतांजलि काला का विशेषतौर

पर आभारी हूँ जिनके सहयोग तथा महत्वपूर्ण सलाह से यह कार्य कर पाना संभव हो पाया।

डा. जितेन्द्र चाहर, दिव्या साहू, राकेश भारद्वाज और डालिया कार का सहयोग विशेष रूप से सराहनीय रहा है। हम राजस्थान के मुख्य शिक्षा सचिव ललित के. पवार का भी आभार व्यक्त करते हैं जिनका योगदान हमारे लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण था। श्री पवार ने समय निकाल कर जयपुर में आयोजित शिक्षकों की कार्यशाला में भी अपना अमूल्य योगदान किया।

इसके साथ ही साथ हम महत्वपूर्ण सहयोग के लिए श्री अभय सिन्हा, पीयूष पन्त, शिराज एहसेन, सत्यदीप और अन्य के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

माइनारटी राइट्स ग्रुप इण्टरनेशनल (एम.आर.जी., लंदन) ने इस प्रक्रिया तथा ''एशिया में बहुलतावाद एवं विभिन्नता : शैक्षणिक हस्तक्षेप तथा प्रशिक्षण के जरिये धार्मिक अल्पसंख्यकों के अधिकारों का संरक्षण'' परियोजना को आगे बढ़ाने में जो सहयोग किया है वह हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है, बिना इस सहयोग के यह कार्य सम्पादित कर पाना असंभव होता। हम 'माइनारटी राइट्स ग्रुप इण्टरनेशनल' के भी आभारी हैं।

अपने उद्देश्यों की तरफ यदि यह 'ट्रेनिंग माड्यूल' तथा 'पठन सामग्री' (संदर्भ सामग्री) कुछ आगे बढ़ता हुआ दिखे तो हम अपने प्रयास को सार्थक समझेंगे।

अनिल चौधरी
पॉपुलर एजुकेशन एण्ड एक्शन सेंटर (पीस)

1

भारत: राज्य, राष्ट्र और राष्ट्र–राज्य

राष्ट्र और राज्य समानार्थक प्रतीत होते हैं, परन्तु हैं नहीं और यह अन्तर मा़त्र अकादमिक नहीं है बल्कि इसके अतिरिक्त भी है। राज्य एक ऐसे भौगोलिक क्षेत्र जिसकी सीमायें तय हों, पर हुकूमत करता है। इनके अपने कानून, टैक्स, अधिकारी, करेंसी, डाक सेवायें, पुलिस और सामान्यतौर पर फौजें होती हैं। ये युद्ध करते हैं, समझौते करते हैं, लोगो को जेल में कैद करते हैं, और जीवन को नियंत्रित करने के हजारों रास्ते अपनाते हैं। अपने भू–भाग में अपनी सीमा के अन्दर वे सम्प्रभुता का दावा करते हैं, जो कि राजशाही के दौर के इलाकेदारी सम्बन्धी परिपाटी की ही भांति है।

यदि ज्यादा स्पष्टता के साथ देखा जाय तो 'राष्ट्र' ऐसे लोगों का समूह है जो यह दावा करते हैं कि वे भाषा, संस्कृति और ऐतिहासिक पहचान के साझेपन से आपस में बंधे हुए हैं। जहां राज्य एक प्रतिबन्धात्मक सामूहिक सोच है वहीं 'राष्ट्र' सामान्यतया स्वैच्छिक हो सकता है। राष्ट्र का उल्लेख राज्य के संदर्भ में न होकर यह वास्तव में पूरी की पूरी संस्कृति, मूल्यों, परम्पराओं और भाषाओं के रूप मे परिलक्षित होता है, जिसमें समाज के व्यक्तियों का विकास होता है। ''राष्ट्र'' (भू–भाग, संस्कृति, भूमि और निवासी) और ''राज्य'' (जोर जबर्दस्ती के उपकरण के रूप में अफसरशाही, राजनेता) के बीच में महत्वपूर्ण अन्तर करते समय महान स्वाधीनतावादी रैन्डाल्फ बुर्ने ने निष्कर्ष निकाला कि कोई व्यक्ति अपने राष्ट्र का सच्चा राष्ट्रभक्त या देश भक्त हो सकता है, केवल एक ही आधार पर कि वह ऐसे राज्य का विरोध करता है जो इसके (राष्ट्र) ऊपर शासन कर रहा है।

''राष्ट्र–राज्य'' राज्य का एक सुनिश्चित रूप है। राज्य को राजनैतिक वैधानिकता इस कारण मिलती है क्योंकि वह राष्ट्र को एक सम्प्रभुता सम्पन्न भौगोलिक इकाई बनाने के लिए एक सम्प्रभुता सम्पन्न स्वतन्त्र इकाई के रूप में कार्य करता है। राज्य एक भौगोलिक एवं राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र अस्तित्व वाली इकाई है और राष्ट्र सांस्कृतिक एवं या जातीयताओं पर आधारित स्वतन्त्र अस्तित्व वाली इकाई है। 'राष्ट्र–राज्य' शब्द से यह ध्वनित होता है कि दोनों एक ही हैं परन्तु इससे 'राष्ट्र–राज्य' और अन्य तरह के राज्यों के बीच मौजूद फर्क भी पता चलता है और यह वे राज्य हैं जो 'राष्ट्र–राज्य' के ऐतिहासिक रूप से पूर्ववर्ती हैं।

'राष्ट्र–राज्यों' की मूल उत्पत्ति एवं इनका इतिहास एक ऐसा विषय है जो विवादित रहा है। इस मामले में एक सैद्धांतिक सवाल खड़ा होता है कि ''किसका अस्तित्व पहले आया राष्ट्र या राष्ट्र–राज्य का?'' राष्ट्रवादी चिंतको का कहना है कि राष्ट्र का अस्तित्व पहले आया, राष्ट्रीय आंदोलन सम्प्रभुता की न्याय संगत तथा वैध मांग के लिए खड़े हुए और इस मांग को मजबूती के साथ रखा, तथा इस मांग को 'राष्ट्र–राज्य' ने पूरा किया। राष्ट्रवाद के कुछ आधुनिकतम सिद्धांत राष्ट्र की पहचान, अस्तित्व को पहले से ही मौजूद राज्य को एकजुट करने और आधुनिक बनाने के मकसद से लायी गयी सरकारी नीतियों का परिणाम मानते हैं। अधिकतर सिद्धांत 'राष्ट्र–राज्य' की अवधारणा को 19वीं शताब्दी के युरोपीय रूझान के रूप में लेते हैं जिसे विकास कार्यक्रमों जैसे सार्वजनिक साक्षरता और शुरूआती दौर में जन संचार, मीडिया ने सम्बल प्रदान किया। किसी सीमा तक इतिहासकारों ने भी इस बात को दर्ज किया है कि पुर्तगाल एवं डच गणराज्य में सबसे पहले (शुरूआत में) तुलनात्मक रूप में ज्यादा एकीकृत राज्य और एक साझी पहचान की भावना ने एक आकार लेना शुरू किया था।

'राष्ट्र–राज्य' की सोच का सम्बन्ध राज्यों की आधुनिक पद्धति से है जिसे वर्ष1648 की 'वेस्टफालिया सन्धि' के नाम पर 'वेस्टफालियन पद्धति' कहा जाता है। 'सत्ता संतुलन' जो उस

पद्धति या प्रणाली की विशेषताओं को बताता है, जो प्रणाली अपने प्रभावोत्पादकता के लिए स्पष्ट रूप से बतायी गयी (व्याख्यायित की गयी), केन्द्रीय रूप से नियंत्रित स्वतंत्र अस्त्त्वि वाली इकाइयों चाहे वे साम्राज्य हों या राष्ट्र–राज्य, की सम्प्रभुता और भू–क्षेत्र को परस्पर मान्यता प्रदान करता है, पर आश्रित होती है। वेस्ट फालियन पद्धति राष्ट्र–राज्य की संरचना नहीं करती है लेकिन 'राष्ट्र–राज्य' जो अपने घटक सहायक राज्यों के मापदण्डों को पूरा करता है, यह मानकर चलता है कि कोई ऐसा भू–भाग, सीमा क्षे़त्र, नहीं है जो विवादित हो।

'राष्ट्र–राज्य' की अवधारणा या विचार 18वी शताब्दी में आरम्भ हुए महान आधुनिक चिंतन प्रक्रिया का एक हिस्सा है,। मिथकों के संग्रह और ऐसे प्रतीकों के माध्यम से जो राष्ट्रीय अखण्डता को पहले से ही मानकर चलते हैं तथा इसके साझे वैचारिक भूत को रेखांकित करते हुए, इस आधुनिक चितंन प्रक्रिया को औचित्यपूर्ण सिद्ध करते हैं। कालान्तार में समय के साथ आगे बढ़ते हुए सभी राष्ट्रों ने अपने सत्ता प्रतिष्ठानो एवं सत्ता वर्ग की संस्कृति के नियंत्रण एवं वर्चस्व में रहते हुए उनके द्वारा उनके (राष्ट्रों) इतिहास के बारे में की गयी व्याख्याओं के आधार पर अपने बारे में अपने इतिहास की समझदारी को विस्तृत किया है और इसी के फलस्वरूप अपने राष्ट्र के बारे में अवधारणाओं, मिथकों को विकसित किया है। इस तरह इतिहास के एक दौर में फ्रांस–एक आदर्श गणराज्य, अपने बारे में प्रचलित मिथक को ताकतवर बनाने के लिए एक क्रांतिकारिता और जर्मन विरोध–प्रतिरोध की नायकत्व की छवि–वाली एक और ताकतवर खुराक देता है। ब्रिटेन ने वर्ष 1939 तक अपने राष्ट्रीय मिथकों को बनाये रखा। एक अन्य गणराज्य संयुक्त राज्य अमेरिका भी इस अवधारणा या दंभ का शिकार है कि वह एक स्वतन्त्र दुनिया है जबकि असलियत यह है कि वह वर्चस्ववादी पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा नियंत्रित है, ऐसी पूंजीवादी व्यवस्था जो साम्यवाद के एकदम मुखालिफ है। सोवियत संघ में खड़े किये गये ढांचे मार्क्सवाद एवं स्टालिनवाद के इतिहास द्वारा सहयोग प्राप्त करते रहे हैं। चीन में प्राचीन

राजशाही की प्रतिष्ठा, साम्यवाद एवं विकसित हो रही आर्थिक एवं सामरिक शक्ति के मिले जुले रूप में हान–राजवंश की परम्पराओं को पुनः प्रतिष्ठापित किया जा रहा है।

भारत जैसे राष्ट्रों जो तुलनात्मक रूप से कम सम्प्रभुता सम्पन्न हैं तथा पूर्व में उपनिवेश रहे है, में उपनिवेशवाद विरोधी विचारधारा ने राजनीतिक रूप से एक आदर्शवादी राष्ट्र–राज्य की अवधारणा को मूर्त रूप दिया है। इस राष्ट्र–राज्य की अवधारणा को भारत में स्वाधीनता संग्राम के नेताओं ने संबल प्रदान किया है। इसीलिए भारत में उत्पादन के सामाजिक रिश्तों के रूपांतरण एंव उनके आपसी लेन देन के रिश्तों के बदलाव जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं (फिर भी अधिकारियों द्वारा तिरस्कृत हैं) के बजाय 'अनेकता में एकता' पर ज्यादा जोर दिया गया।

राष्ट्र के मूल में (राष्ट्र के जन्म लेने या राष्ट्र के निर्मांण में) जातीयता और नस्लीय आधार पर अधिक जोर देने की समझ ने (19वीं शताब्दी) इन संदर्भों में राष्ट्र–राज्य को पुनः परिभाषित करने की दिशा में हमें आगे बढ़ाया। बोलेनविलियर्स सिद्धांतों के मुताबिक नस्लवाद अपने मूलगुण के रूप मे देशद्रोही और अराष्ट्रीयतावादी था और इसका जुड़ाव या तालमेल औपनिवेशिक साम्राज्यवाद और ''वैश्विक साम्राज्यवाद'' से रहा है जो पैन जर्मन और पैन स्लेविक आदोलनों में उल्लेखनीय रूप से देखा जा सकता हैं। नस्लवाद और जातीयता केन्द्रित राष्ट्रवाद के आपसी सम्बन्ध 20वी शताब्दी में अपने चरम बिन्दु पर पहुंचकर फासीवाद एवं नाजी आंदोलन के रूप में सामने आये। 'राष्ट्र' एवं 'राज्य' के विशेष सम्बन्धों की ऐसी खास व्याख्या की गयी जो 'वोलकीश स्टाट' जैसे शब्दो में परिलक्षित होती है, और इस विचार को कानूनी जामा भी पहनाया गया जैसे 'न्यूरेमबर्ग लाज' (1935)। इन जैसे कानूनों के जरिये फासिस्ट राज्य स्थापित किये गये उसी तरह के जैसे कि प्रारंभिक दौर का नाजी जर्मन जो गुणात्मक रूप से गैर फासिस्ट राष्ट्र–राज्यों से अलग था। यहाँ निश्चित रूप से अल्पसंख्यक जो कि वोल्क के हिस्से नहीं थे उन्हे किसी भी प्रकार की विश्वसनीय

या कानून सम्मत भूमिकाओं से ऐसे राज्य में अलग रखा गया। जर्मनी में न तो यहूदी और न हि रोमा को वोल्क का हिस्सा माना जाता था और उन्हे दण्डित करने के लिए खासतौर पर निशाने पर लिया जाता था। इसी प्रकार जर्मनी का राष्ट्रीयता कानून व्याख्या करता था कि 'जर्मन' का निर्धारण 'जर्मन वंश' के आधार पर होगा, जिसका मतलब था सभी गैर जर्मन को 'वोल्क' से बाहर करना।

आज के आधुनिक दौर में 'राष्ट्र–राज्य' सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण राजनीतिक संगठन बनकर कायम है। अधिकांश राष्ट्र–राज्यों की समझ के द्वारा सार्वभौमिक मानव स्वभाव पर आधारित सोच प्रतिबिम्बित होती है। इस सोच में सभी मानवों को समान माना जाता है। यह अत्यंत ही परस्पर विरोधी बात है कि पूरी दुनिया में अपने उपनिवेश कायम करने वाले यूरोपीय राष्ट्र–राज्य सबसे पहले इन प्रतिमानों को लागू करने वाले प्रतीक बने। यह सब करने मे यूरोपीय राष्ट्र–राज्य को इस तथ्य ने मदद किया कि प्रत्येक यूरोपीय देशों में वहाँ के नागरिक एक भाषा और एक धर्म को बोलते तथा मानते थे। सार्वभौमिकता को वैधानिकता प्रदान करना तब अत्यन्त सरल होता है जब सारे लोग एक जैसे ही हों।

लेकिन भारत इस तरह का स्थान नहीं है। यहाँ पर लगभग सभी के सभी लोग आपस में एकदम भिन्न हैं और राजनैतिक रूप से भी सभी के रास्ते एकदम अलग हैं और इन हालात से एक सवाल खडा होता है कि 'ऐसी स्थिति में क्या होता है जब राष्ट्र–राज्य के रूप तथा मानदंड अलग अलग तथा एक दूसरे से भिन्न हों।

राष्ट्र–राज्य एक औपचारिक व्यवस्था है जिसमें स्पष्टता के साथ परिभाषित एक संविधान होता है, नागरिकता के लिए सख्त मानदंड तय होते हैं और सबसे महत्वपूर्ण है राष्ट्र–राज्य का हिंसा पर वर्चस्व। इसमें स्पष्ट तौर पर एक कमजोरी है और वह कमजोरी यह है कि राष्ट्र–राज्य की जिस तरह की ढांचागत संरचना है उसके कारण वह अपने आप में लचीलापन ला सकने

में अक्षम है। किसी औपचारिक व्यवस्था में तय शुदा मानदंडों से भटकाव (बदलाव) उस व्यवस्था के वजूद के लिए खतरे के रूप में सामने आते हैं। इसलिए निश्चित तौर पर राष्ट्र–राज्य ऐसी परिस्थिति में बहुत ही कमजोर भूमिका अदा करता है जब उसे ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जब उसे अपने ही देश की ऐसी आबादी से संघर्ष करना पड़ता है जो राज्य के मौलिक नियम–कायदे–कानूनों से असहममि रखती है। अपनी आबादी के एक निश्चित तबके द्वारा बुनियादी नियमों–कायदे–कानूनों को लेकर असंतोष या असहमति व्यक्त किये जाने पर बहुत से राष्ट्र–राज्य ऐसी आबादी के साथ अत्यन्त ही निर्दयता के साथ पेश आते हैं और योजनाबद्ध ढंग से उनका उत्पीड़न करते हैं– जैसा कि युरोप में यहूदियों के साथ तथा चीन में तिब्बतियों के साथ होता रहा है।

विभिन्नता वाली आबादी के विचारों को, मानदण्ड तय करने के मानकों को तय करते समय सम्मिलित करके हम एक कम हिंसक रास्ते को अपना सकते हैं जैसा कि अमेरिकन समाज में 'मेल्टिंग पाट' अर्थात तमाम विभिन्नताओं का आपस में घुल मिल जाना, जारी है। लेकिन इस तरह के मामलों में भी राष्ट्र–राज्य वास्तविक तथा सच्चे मतभेदों को बर्दाश्त नहीं करता, यह केवल भिन्न भिन्न समूहों को बहला–फुसला कर एक ऐसे माध्यम (जरिये) की तरफ ले जाता है जिसके आधार पर वे साथ–साथ रहने के इच्छुक हैं– जबकि मतभेद बरकरार रखे जा सकते हैं–रहते हैं।

राष्ट्र राज्य की व्याख्या पेटीबुर्जुआजी द्वारा प्रेरित आरामदायक–वर्गविहीन–देशभक्ति जो कि गहरे अन्तर्विरोधों से भरी है, को कमतर करके आंकती है। भारत में दिन–प्रतिदिन के जीवन में राष्ट्र–राज्य के अन्तर्विरोध स्पष्ट दिखायी पड़ते रहते हैं लेकिन ऐसे समय में जब स्वतन्त्रता दिवस या गणतन्त्र दिवस मनाये जाते हैं, जिसमें राष्ट्र की महत्वपूर्ण स्मृतियों को पुनः याद किया जाता हैं– भावनाओं को गहराई से प्रभावित करने वाला तथा अत्यंत ही हदय–विदारक होता है। इसी प्रकार और खास तारीखें जो व्यापक

देशभक्ति की भावना से भरपूर होती हैं तथा देशभक्ति के प्रति समर्पित होती हैं, 2 अक्टूबर (गांधी जंयती) 14 नवम्बर (नेहरू जयंती) या बाल दिवस तथा 23जनवरी (नेताजी सुभाष चन्द बोस जयंती)। इन तारीखों पर सिनेमा, मीडिया तथा विद्वानों द्वारा देश के बहादुराना इतिहास को पुनः दोहराया जाता है, स्मरण किया जाता है। जिसे किसी एक सैद्धांतिक खांचे में ढाला नहीं जा सकता है बल्कि यह कई मायनों में परस्पर विरोधी भी होता है। एक भारतीय को यह याद दिलाने की शायद ही जरूरत है कि जंग–ए–आजादी की परिणति जितनी ही आजादी थी उतनी ही देशव्यापी कत्लेआम भी थी। निश्चित तौर पर मौजूदा समय में बढ़ रही धर्मांधता पर आधारित राष्ट्रीयता के साथ समय–समय पर या अकसर उन प्रतीकों या ताकतों को जोड़ा जाता है जिन प्रतीकों या ताकतों को स्वाधीनता संग्राम में आजादी की लड़ाई को सशक्त करने के लिए इस्तेमाल किया गया था।

क्या राष्ट्र–राज्य का कोई ऐसा विकल्प है जो भिन्नताओं या मतभेदों के प्रति ज्यादा उदार या सहृदय हो? यद्यपि एक विकल्प है और वह है साम्राज्य– जिसे दुनिया ने देखा भी है परंतु यह अत्यन्त डरावना तथा भयकंर है। अन्य बातों के अलावा साम्राज्य श्रेणीबद्धता (उच्च–निम्न कम) पर आधारित लोगो का एक ऐसा संगठन है जिसमें एक केन्द्र (धुरी) होता है –(जैसे लंदन) और एक परिधि होती है –(जैसे दिल्ली) ।

एक साम्राज्य में भिन्न–भिन्न प्रकार के लोग होते है परंतु किसी भी साम्राज्य में किस नागरिक को कितना तथा किस स्तर तक का अधिकार दिया जायेगा यह इससे तय होता हैं कि उस नागरिक की केन्द्र से दूरी कितनी है– कितनी कम या कितनी ज्यादा। –(अर्थात ज्यादा दूरी–होने पर कम अधिकार तथा कम दूरी– होने पर ज्यादा अधिकार)। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक तरफ तो साम्राज्य भिन्नताओं को स्वीकार करता है परंतु दूसरी तरफ वह समानता एवं स्वायत्तता देने में हीला–हवाली करता है।

लेकिन हम जिसकी खोज में या जिसके लिए कोशिश में लगे हैं वह है मतभेदों या भिन्नताओं के प्रति एक सकारात्मक सहिष्णुता का उदाहरण। इस संदर्भ में भारत के पास आधुनिकता को एक उपयोगी योगदान कर सकने की काबिलियत है।

हाल के सालों में राष्ट्र–राज्य के इस दावे की तीखी आलोचना हुई है जिसके तहत वह यह दावा करता है कि उसकी सीमा के अन्दर पूर्ण सम्प्रभुता है। अन्तर्राष्ट्रीय संधियों पर आधारित तथा शक्तिसम्पन्न देशों के खेमे, युद्ध– (द्वितीय विश्व युद्ध) के बाद की वैश्विक राजनीतिक व्यवस्था की दूसरी तरह की ही विशेषताओं को प्रदर्शित करते हैं। राज्य के अलावा अन्य कर्त्ताओं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय कारपोरेशंस और नान गवर्नमेण्ट आर्गनाइजेशंस राष्ट्र–राज्यों की आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों पर कब्जा करते जा रहे हैं। इस प्रकार के घटनाक्रम राष्ट्र–राज्य के वास्तविक रूप में समाप्त हो जाने की स्थिति की तरफ इशारा कर रहे हैं।

राष्ट्र–राज्य की अपनी अलग विशेषतायें है जो 'प्री–नेशन स्टेट' से एकदम भिन्न हैं। राष्ट्र–राज्य की सबसे ज्यादा उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वह राज्य को आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के संदर्भो को ध्यान में रखते हुए– एकता–अखण्डता के लिए एक औजार के रूप में इस्तेमाल करता है। राष्ट्र–राज्य ने अपने पूर्ववर्ती नान–नेशन की तुलना में जो प्रभाव डाला है वह अत्यन्त ही उल्लेखनीय हैं। यह प्रभावपूर्ण कार्य है राज्य की नीतियों द्वारा एक समान राष्ट्रीय संस्कृति का सृजन करना। राष्ट्र–राज्य के माडल में यह अन्तर्निहित है कि इसकी आबादी एक राष्ट्र को बनाती है, यह एक साझे वंशानुक्रम द्वारा एकजुट रहता है, एक साझी भाषा और साझी संस्कृति के तमाम रूप इसकी एकता के मूल आधार होते है। जब कभी इस तरह की अन्तर्निहित एकता नदारत दिखी तब राष्ट्र–राज्य ने अकसर इस तरह की एकता के सूत्र को बनाने का प्रयास किया है। इस तरह के प्रयासों से भाषा–नीति के जरिये सर्वसम्मत राष्ट्रीय भाषा की प्रोन्नति' की गयी। राष्ट्रीय अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा नीति का

निर्माण और इसी प्रकार सेकेण्डरी शिक्षा के स्तर पर एक जैसे राष्ट्रीय पाठ्यक्रम की संरचना ने राष्ट्रीय भाषा के विस्तार एवं विकास के लिए एक कारगर औजार के रूप में कार्य किया है। स्कूलों मे राष्ट्रीय–इतिहास भी पढ़ाया जाता था और अकसर यह प्रोपेगण्डा और मिथकों के रूप में भी होता था और अकसर संघर्ष की स्थितियों में कुछ 'राष्ट्र–राज्य' आज भी इस तरह के इतिहास पढ़ाते आ रहे हैं।

अंतर्राष्ट्रीय तत्वों को कुचलने के उददेश्य पर केन्द्रित भाषायी एवं सांस्कृतिक नीति यदा कदा नकारात्मक भी रही थी। भाषायी प्रतिबंध का इस्तेमाल कभी कभार राष्ट्रीय भाषा को स्वीकार कराने के प्रयास को गति देने के लिए और अल्पसंख्यक भाषाओं की अवनति के लिए किया जाता रहा है।

कुछ मामलों में इन नीतियों ने कड़वे विवादों और संघर्षों को खड़ा किया और नस्लीय अलगाववाद को हवा दी। लेकिन जहां पर यह कारगर रही वहां पर जन मानस के बीच में सांस्कृतिक एकरूपता और वर्चस्ववादी प्रवृत्ति में बढ़ोत्तरी हुई। इसके ठीक विपरीत सीमाओं पर सांस्कृतिक अलगाव और तीखा होता गया। उदाहरण के तौर पर राइन के दोनों किनारों पर बसे इलाकों को लिया जा सकता है। सैद्धांतिक रूप में फ्रेंच पहचान एटलांटिक तट से राइन के किनारे तक विस्तृत हुई और राइन के दूसरे किनारे से जर्मन पहचान की शुरूआत हुई। अपने–अपने माडल को लागू करने के लिए दोनो पक्षों ने अपनी अलग–अलग भाषा नीति और शिक्षा प्रणाली बनायी जबकि भाषायी सीमा फ्रांस के अन्दर है और एलजैक रीजन ने 1870 एवं 1945 के बीच 4 बार अपनी पोजीशन बदली है।

''राष्ट्रीय–पहचान'' को एकरूप करने की समझ उन देशों तक भी पहुंची–विस्तृत हुई जिन देशों में बहुत से नस्लों तथा अलग–अलग भाषा बोलने वाले समूह वास करते हैं। इन देशों की कोटि में भारत और चीन जैसे देशों को रखा जा सकता है। 'एक राष्ट्र,

एक देश' के आदर्श से अलगाव या भटकाव स्पष्ट रूप से अल्पसंख्यकों की मौजूदगी और वह भी खासतौर पर नस्लीय अल्पसंख्यकों की मौजूदगी जो पहले से ही 'बहुसंख्यक राष्ट्र' के सदस्य नहीं रहे हैं, के कारण हुआ है। एक नस्लीय राष्ट्रवादी विचार के अनुसार एक राष्ट्र की यह अनिवार्य विशेषता है कि वे (नस्लीय राष्ट्र) अपने राष्ट्र में खुली सदस्यता नहीं रखते हैं।

राष्ट्र–राज्य के भीतर अल्पसंख्यको के प्रति नकारात्मक रूख ने उन्हे पंक्तिबद्ध करने या राज्य द्वारा थोपे गये विचारों को अपना लेने या उन्हे अलग थलग कर देने (समाज से), सजा भुगतने, हिंसा और विध्वंश के लिए तैयार रहने की स्थितियाँ पैदा कर दी हैं। विचारों को मनवाने या विचारों को सम्मिलित कराने की नीतियां सामान्यतौर पर राज्य द्वारा लागू की जाती हैं लेकिन यह जरूरी नहीं हैं कि अल्पसंख्यकों के खिलाफ की जाने वाली हिंसा हमेशा राज्य की पहल पर ही हो, यह भीड़ द्वारा की जाने वाली हिंसा के रूप में भी हो सकती है जैसे किसी तथाकथित अपराधी पर बिना मुकदमा चलाये जनता द्वारा ही उसे मार दिया जाना। इतिहास में दर्ज कुछ ऐसे निर्मम हिंसक कारनामे जो अल्पसंख्यकों के खिलाफ थे, के लिए राष्ट्र–राज्य जिम्मेदार रहा है। क्योंकि निशाने पर लिए गऐ इन अल्पसंख्यकों को राष्ट्र का हिस्सा नही माना गया।

किसी सीमा तक तमाम राष्ट्र–राज्य किन्ही खास अल्पसंख्यकों को राष्ट्र का हिस्सा मानते हैं और इस संदर्भ में राष्ट्रीय अल्पसंख्यक शब्द का अकसर इस्तेमाल किया जाता है। बहु–संस्कृतिवाद को अनेक देशों में एक आधिकारिक नीति के रूप में रखा गया है। यह नीति विभिन्न नस्लीय, सांस्कृतिक एवं भाषायी समूहों के बीच शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व की स्थापना के लिए बनायी गयी है। कई राष्ट्रों में अल्पसंख्यकों के सुरक्षा एवं संरक्षण के लिए कानून भी बनाये गये हैं।

भारत में 'राष्ट्र' एवं 'राष्ट्र–राज्य' :

भारत एक प्रकार से या किसी अन्य प्रकार से स्पेन, बेल्जियम और कनाडा की तरह रहा है या है। इन तीन लोकतांत्रिक गणराज्यों का जिक्र इसलिए किया गया है क्योंकि इन गणतांत्रिक देशों में भारत की ही तरह बहु–राष्ट्रीय तत्व मौजूद हैं।

एक राष्ट्र–राज्य जो अधिकांश या लगभग सभी नागरिकों के लिए है, एक राज्य जिसके प्रति वे ऋणी तथा निष्ठावान हैं लेकिन सही मायने में वह एक राष्ट्र नहीं है। खासतौर पर महत्वपूर्ण– उल्लेखनीय अल्पसंख्यको के संदर्भ में, और राज्य जिसके विरूद्ध हाशिये पर पड़े कुछ अल्पसंख्यक सवाल खडा करते हैं।

निश्चित तौर पर यह सच है कि राष्ट्रीयता के सवाल पर अलग–अलग सोच–नजरिये हैं। बहुत से ऐसे लोग हैं जो अन्य पहचानों को महसूस करते हैं, और वे इसे कभी कभी बराबर अहमियत वाली और कभी कभी इस पहचान को भारतीय राष्ट्रीय पहचान से भी ज्यादा अहमियत वाली जगह रखते हैं। निश्चित तौर पर भारत के ऐसे नागरिक हैं जो भारतीय राज्य के अस्तित्व के ऊपर कोई सवाल खडा नहीं करते। लेकिन वे किसी अन्य पहचान को भी बड़ी गहराई से महसूस करते हैं, ऐसी पहचान जो मौलिक रूप में राष्ट्रीय संवेदनाओं–भावनाओं और राजनीतिक आंदोलनों के आधार के रूप में काम आ सके। ऐसा मामला ही सिख अल्पसंख्यकों के साथ था जिसके तहत वे खालिस्तान के साथ अपनी पहचान को जोड़कर इसे एक स्वतंत्र सिख राज्य के रूप मे देख रहे थे। भारत के उत्तर–पूर्व के राज्यों में कुछ ऐसे समूह हैं जो भारतीय राष्ट्रीयता की पहचान से अपने आपको बहुत कम करके जोड़ते हैं, वे अपने आपको एक अलग विशिष्ट राष्ट्रीयता वाला महसूस करते हैं या अपनी पहचान को एक आदिवासी पहचान के रूप में मानते हैं। यह समूह किसी एक या दूसरे मौके पर भारतीय राज्य के अधिकार और अस्तित्व को चुनौती देते रहे हैं और कुछ सीमा तक अपनी स्वायत्तता के लिए भी लड़ते रहे हैं। लेकिन जैसा कि मिजोरम के साथ किया गया– अर्थात मिजोरम को भारतीय राज्य में शामिल कर लिया गया और

भारतीय संघ का सहभागी बना लिया गया जो भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के संघवाद का जीता जागता नमूना है जहाँ 'राष्ट्र–राज्य' ने 'राष्ट्र' को दरकिनार कर दिया।

भारत की दो पहचान है : एक राष्ट्र के रूप मे और दूसरी राष्ट्र–राज्य के रूप में। इन दोनों में तमाम समानताओं के बावजूद भी यह दोनो कुछ महत्वपूर्ण दृष्टियों से एकदम भिन्न हैं। पहला अन्तर जो इनकी मूलभूत विशेषताओं के कारण है वह यह है कि राष्ट्र स्वायत्तता की मॉग को और ज्यादा रचनात्मकता के लिए उठाता है, (यदि इसे हम राष्ट्र–राज्य से तुलनात्मक रूप मे देखें) दूसरे, साम्राज्यों के विपरीत राष्ट्र समान लोगों की एक संरचना है, इसके लिए गांधी जी द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का इस्तेमाल किया जा सकता है। इस संदर्भ में गांधी जी कहते हैं कि 'राष्ट्र शासित लोगो का स्वैच्छिक संघ' है। इसका बुनियादी ध्येय अपने नागरिकों की आजादी एवं स्वायत्तता को सुनिश्चित करना है।

राष्ट्र एक ऐसी व्यवस्था है जो किसी बाहरी शक्ति की मदद के बिना बनी है। जिसका ढांचा कानून की व्यवस्था के आधार पर नहीं बल्कि भूगोल एवं इतिहास के आधार पर निर्मित किया गया है। भारतीय राष्ट्र की भौगोलिक सीमायें प्राकृतिक रूप से निर्मित हैं और दक्षिण एशिया की सीमाओं से लगी हैं। भारतीय राष्ट्र का एक सुसंगत इतिहास है। मौर्य सम्राट अशोक एवं मुगल बादशाह अकबर भारतीय राष्ट्र के इतिहास के हिस्से हैं न कि भारतीय राष्ट्र–राज्य के इतिहास के।

कुछ लोगों का कहना है कि आज से 100 साल पहले हमारे पास एक राज्य था परंतु हमारे पास राष्ट्र नहीं था । ब्रितानी हुक्मरान भारत में अपने राज को यह कहकर जायज ठहराते हैं कि उन्होंने भारत में असभ्य लोगों की भीड़ के बीच एक कानून का राज कायम किया। जब लोगों ने उनके राज के खिलाफ विद्रोह किया तो लोगों की आवाज ताकत के बल पर दबा दी गयी। ब्रिटेन की राज्यवादी अवधारणा के जवाब में भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम ने यह

दावा किया कि भारत एक राष्ट्र था, मात्र राज्य नहीं और अंग्रेजों को भारतीय राष्ट्र पर शासन करने का न तो कोई अधिकार है और न हि इसका किसी प्रकार का वैधानिक औचित्य है।

इस राष्ट्रवादी तर्क का केन्द्रीय या मूल आधार यह था कि भारत के इतिहास की अपनी निरंतरता मौजूद है, सिन्धु घाटी कालीन सभ्यता के समय से लेकर आज तक यह निरंतरता देखी जा सकती है। सच्चे स्वराज की प्राप्ति के लिए चलाये जाने वाले राजनीतिक आन्दोलन को टिकाऊ बनाये रखने के लिए राष्ट्रीय पहचान का सवाल एक महत्वपूर्ण सवाल बना हुआ था। राष्ट्र का हित हमारी चेतना में मौजूद था। इस बात को सोचिये कि राष्ट्र–राज्य के मुख्य अवयव या तत्व–न्यायपालिका, अफसरशाही, पुलिस और फौज औपनिवेशिक शासकों की ही देन या उत्पति हैं। जब हम भारतीय राष्ट्र के इतिहास को पुनः मूल्यांकित कर रहे थे, अपने दिलों में हमने औपनिवेशिक राज्य को खारिज कर दिया। हम अपनी राष्ट्रीयता के पहचान के मसले पर चन्द्रगुप्त को अपने बहुत करीब पाते हैं और कर्जन को बहुत दूर महसूस करते हैं। यह उसी प्रकार है जैसे कि हमने 'भारतीय राष्ट्र' के इतिहास के लिए 'भारतीय राष्ट्र–राज्य' के इतिहास को खारिज कर दिया हो।

लेकिन जब स्वाधीनता की प्राप्ति का उददेश्य पूरा हो गया तब राष्ट्रीयता का लक्ष्य वरीयता में नही रह गया बल्कि राष्ट्र–राज्य की स्थापना का कार्य आजादी के बाद सब से महत्वपूर्ण वरीयताओं में शामिल हो गया। कांग्रेस एक राष्ट्र की पार्टी के बजाय एक राष्ट्र–राज्य की पार्टी के रूप में तब्दील होती चली गयी। लेकिन राष्ट्र लोगों की कल्पनाओं एवं इच्छाओं में नदारत नहीं हुआ। भारत के संदर्भ में दोनों नजरियों राष्ट्रवादी एवं राष्ट्र—राज्यवादी के बारे में वर्ष 1975–77 का आपातकालीन दौर एक निर्णायक रूप में सामने आया। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने यह कहकर आपातकाल के औचित्य को न्यायसंगत सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारतीय राष्ट्र–राज्य के सामने मौजूद खतरों से इसे बचाने के लिए आपातकाल अनिवार्य हो गया है। परन्तु

भारतीय नागरिकों ने उनके इस तर्क को अस्वीकार्य कर दिया। तभी से राष्ट्र–राज्य राष्ट्रीयता की भावनाओं द्वारा सशक्त किया जाता रहा है। क्षेत्रीय एवं पिछडी जातियों की पार्टियों के उदय और पार्टियों द्वारा मिल–जुलकर बनायी गयी संयुक्त सरकारों द्वारा चलाये जा रहे शासन ने भविष्य में एक बार फिर से राष्ट्र–राज्य के ऊपर राष्ट्र के वर्चस्व के संकेत दिये।

यह लगभग तयशुदा बात है कि राष्ट्रीयता की तस्वीर तब तक पूरी की पूरी साफ नहीं होगी जब तक इसकी छिपी हुई बातों को उजागर न किया जाय। राष्ट्र के ऊपर राष्ट्र–राज्य के वर्चस्व ने भयंकर हिंसा की दिशा की तरफ आगे बढने का कार्य किया। उदाहरण के तौर पर नाजी राज्य ने यहूदियों को शरणाार्थी कैम्पों में पहुॅचाने से पहले उनकी नागरिकता छीन ली। सबसे घिनौने रूप में राष्ट्र–राज्य की अफसरी हिंसा को रखा जा सकता है जो कि राष्ट्रीयता के बुनियादी लक्षणों–भावनाओ के साथ साँठगाँठ करके जनसंहार तक का अपराध कर सकता है। भारत इस तरह की भावनाओं से अपरिचित नहीं है। गुजरात के दंगे बिना किसी चूक के की गयी अत्यन्त ही डरावनी तथा सिहरन पैदा करने वाली हिंसा थी। यह बड़ी ही चालाकी से राष्ट्र और राष्ट्र–राज्य के गठजोड़ द्वारा हिन्दु–आधिपत्य के कृत्य के रूप में की गयी भयंकर हिंसा थी।

जुल्फिकार अली भुट्टो (पाकिस्तान) की सरकार में वित्तमंत्री रहे डा0 मुबाशिर हसन जो इस वक्त एक शांतिकामी कार्यकर्ता हैं, का कहना है कि मैं संगठित धर्म एवं राष्ट्रवाद में बहुत कम अंतर पाता हूॅ। राष्ट्रवाद युरोपीय लोगों की देन है– मुख्यतौर पर फ्रांस द्वारा इस दुनिया को दी गयी सौगात।

आज भारत अपनी धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को सर्व धर्म समभाव अर्थात राज्य के द्वारा सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखना के रूप में मान रहा है।, दूसरी तरफ पाश्चात्य मॉडल यह चाहता है कि समुदायों के बीच राज्य किसी प्रकार की मध्यस्थता

न करे जिसका मतलब होगा –यहाँ हज यात्रा के लिए सबसिडी की मदद और वहाँ तीर्थ यात्रियों को सैन्य सुरक्षा या वीजा की मदद करने की बजाय राज्य अपनं आप को धर्म निरपेक्ष शासन–प्रशासन तक सीमित रखे।

राष्ट्रीय पूर्वाग्रहों से मुक्त विचारों वाले जवाहर लाल नेहरू और उनके उत्तराधिकारियों (इन्दिरा गांधी एवं राजीव गांधी) के दिशा निर्देशन में भारत ने धर्मनिरपेक्षता की नीति को अपनाया (यद्यपि धर्मनिरपेक्षता जो यहां पर मानी–समझी जा रही थी वह पाश्चात्य मान्यता से भिन्न थी) और हिन्दु वर्चस्व वाले देश में अल्पसंख्यकों को सुरक्षा एवं संरक्षण देने की नीति पर चलते रहे। पिछले दो दशकों में इस तरह की नीतियों को लेकर व्यापक स्तर पर नाराजगी प्रकट की जाती रही है और राष्ट्रीय पहचान के सवाल को रेखांकित करते हुए यह कहा जाता रहा है कि इसे भी इन नीतियों में समाहित किया जाना चाहिए। हिन्दु राष्ट्रवाद के एकाएक उभार और इसका प्रतिनिधित्व करने वाली भारतीय जनता पार्टी को मिली चुनावी सफलता पिछले 20 सालों में भारत में एक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना है। बहुत से लोग यह तर्क देते हैं कि भारत को एक हिन्दु राष्ट्र के रूप में स्थापित किया जाना चाहिए। लेकिन इसका तात्पर्य क्या हैं इस बात को लेकर धार्मिक राष्ट्रवादियों के बीच में भी बहस जारी है।

प्रारंभिक भारतीय राष्ट्रवाद :

19वीं शताब्दी एवं 20वीं शताब्दी के पहले के आधे सालों का राष्ट्रवादी एजेण्डा उपनिवेशवाद से निजात पाने के लिए उठ खड़ा हुआ था और इस एजेण्डे में साम्राज्यवाद को भी शामिल किया गया था। ब्रेकनरिज और पीटर वॉन डर वीर ने इस परस्पर विरोधी मत से असहमति व्यक्त करते हुए कहा कि "राष्ट्रवाद ओरियेन्टलिज्म का जबाब नहीं, जैसा कि कुछ लोग निष्कर्ष निकालते हैं बल्कि इसके ठीक उलट राष्ट्रवाद उपनिवेशवादी काल और उपनिवेशवाद के बाद के काल मे ओरिएन्टलिज्म के अवतार के रूप में सामने आया है।" ज्ञान प्रकाश द्वारा राष्ट्रवाद

पर ओरिएन्टलिज्म के पड़े प्रभावों को साफ तौर पर उद्घाटित किया गया है। यह सबसे ज्यादा उचित होगा कि ज्ञान–प्रकाश को पूरा का पूरा उद्धरित किया जाय जिससे कि हमें उस सैद्धांतिक ढांचे के रूप–स्वरूप को समझने में मदद मिले जो कि आज के समकालीन हिन्दुराष्ट्रवाद या हिन्दुत्व का ढिढोरा पीटने वालों को निर्देशित करता हैः

ओरिएन्टलाइज्ड भारत को पहली महत्वपूर्ण चुनौती राष्ट्रवाद और राष्ट्रवादी इतिहास दृष्टि से मिली यद्यपि इसमे कुछ निश्चित अन्तर्विरोध मौजूद थे। भारत से क्या तात्पर्य है जब हम इस पर बात करते थे तो अनिवार्य रूप से वह युरोप से सम्बन्धो से प्रभावित होता था। राष्ट्रवादियों ने इसे उदासीन से सक्रिय, आश्रित से सम्प्रभु और इस योग्य बनाया कि यह इतिहास तथा तर्क से इसके रिश्तों को जोड़े।

क्लासिकल इण्डिया को महिमामण्डित करके हिन्दु इण्डिया और हिन्दु इण्डिया को आधुनिक भारत के जन्मदाता के रूप में प्रस्तुत किया जाना उन स्थितियों के प्रत्युत्तर में हुआ जब राष्ट्रवादी असमंजस मे फँसे हुए थे। एक तरफ वे (भारतीय राष्ट्रवादी) युरोपीय सोच के मुताबिक भारत को एक राष्ट्र–राज्य के रूप मे सोचते थे जो तार्किक सोच, प्रगति और उदारता का प्रतीक था दूसरी तरफ राष्ट्रवाद का उदय युरोप से दूर रहने के आभास की मांग करता था।

इस प्रकार हिन्दू राष्ट्रवादी यह दावा करने लगे थे कि वेद के पाठ्य एवं प्राचीन इतिहास ने न केवल भारत को एक राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत किया है बल्कि यह भी कहा कि उपनिवेशवाद शुद्ध रूप से युरोपीय है।

एक बार फिर से, 'भारतीय' बैनर के नीचे राष्ट्र को एकजुट करने के उद्देश्य से धर्म का इस्तेमाल एकदम स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। ओरिएन्टलिज्म के साथ मिलकर राष्ट्रवाद ने भारत को

एकताबद्ध तथा एक जैसी इकाई जिसमें धर्म भी एक जैसा हो, के निर्मांण की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली । और इस रहस्य पर से भी पर्दा हटाया कि एक जैसे धर्म का सारतत्व हिन्दु धर्म है। जी0 एलाएसियस ने एक उल्लेखनीय योगदान करते हुए यह बताया कि किस प्रकार ऐतिहासिक रूप में इस धार्मिक पुनर्जागरण का इस्तेमाल राष्ट्रवादी उददेश्यों के लिए किया गया :

अपने सर्वव्यापी वर्चस्व को मिल रही वास्तविक एवं संभावित चुनौतियों का सामना करते हुए ब्राह्मणवादी सिद्धांतो तथा ताकतों ने इस चुनौती से निपटने के सभी प्रकार के तरीकों का इस्तेमाल किया। इसमें ब्राहमणवादी विचारों में सुधार , संशोधन एंव पुनरूत्थानवादी प्रयास शामिल रहे हैं और अन्तन्तः ब्राह्मणवाद ने अन्तिम रूप मे अपनी रणनीति को मुकम्मल बनाते हुए अपने आपको सर्व–भारतीय राजनैतिक राष्ट्रीय हिन्दुत्व के रूप में नया अवतार दिया।

नेतृत्वकारी , वर्चस्ववादी तथा प्रभावशाली वर्ग के होने के नाते इस समूह ने एक बार फिर से ब्राह्मणवादी सिद्धांतो पर पुनः कार्य किया और इसे पुनः व्याख्यायित किया – नये ढंग से परिभाषित किया : सामाजिक वर्चस्व–प्रभाव की स्थितियों से आगे बढ़कर समयानुकुल ऐसे सिद्धांत के रूप में कार्य करे जो राज–सत्ता के अनुकूल हो तथा राजसत्ता का ही सिद्धांत हो, साथ ही साथ यह राज्य के हित में हो। इस प्रकार हिन्दुत्व का उभार ब्राह्मणवादी के साथ ही साथ राष्ट्रीय भी है।

यहॉ पर जिस बात पर सबसे ज्यादा जोर दिया गया है वह यह है कि राष्ट्रीयतावाद का रूझान सभी प्रकार की विभिन्नताओं एवं बहुलताओं को कमजोर करने में था जिससे कि इसे धार्मिक रूप से एक एकजुट इकाई के रूप में निर्मित किया जा सके। और किस प्रकार से सर्व–भारतीय पहचान को हिन्दु–पहचान (विशेषतौर पर ब्राह्मणवादी) के रूप में परिभाषित किया जाय।

यह आवश्यक है कि इस एकाधिकारवादी ब्राह्मणवादी धार्मिक सम्मिश्रण की प्रक्रिया और इसके रूप स्वरूप जो वर्चस्ववादी सर्व–भरतीय पहचान से जुड़ी है, की स्थानीय या घरेलू लम्बी जड़ों को रेखांकित किया जाय जो कि पाश्चात्य उपनिवेशवाद के आगमन के पहले से ही मौजूद रही हैं। डेविड स्काच अपनी राय रखते है कि ओरिएन्टलिज्म के विभिन्न कोण दोहरी प्रकियाओं को अपनाते हैं एक तरफ वे सेल्फ (ब्राह्मण) के पराक्रम के मानक तय करते हैं और दूसरी तरफ अन्य (दलित, आदिवासी और विदेशी) को निम्न सिद्ध करने के लिए उनके अन्तरों को स्पष्ट करते हैं– और यह प्रकिया दक्षिण एशिया में उपनिवेशवाद के आगमन के पहले से चली आ रही है। औपनिवेशिक काल के पूर्व के दौर मे जारी सत्ता–समीकरणों और सत्ता जो विशेष तौर पर संस्कृत के ज्ञान पर एकाधिकार के माध्यम से और धार्मिक नियमो की व्याख्या की काबिलियत पर एकाधिकार के माध्यम से कार्य कर रही थी, का विश्लेषण करते हुए स्काच यह जानकारी देते हैं कि ओरिएन्टलिज्म की जड़ भारत के भूतकाल में मौजूद थी।

समकालीन हिन्दु राष्ट्रवाद :

आज हिन्दु राष्ट्रवाद के पुनः सक्रिय होने से बड़ी कोई अन्य खतरनाक चेतावनी नहीं हो सकती हैं। लेकिन यह अप्रत्याशित नही है' क्योकि यह उपनिवेशवाद और भारतीय राष्ट्रवाद के गठजोड़ की अनिवार्य परिणति के रूप में व्यक्त हुई है। इस गठजोड़ को ऊपर के वर्णन में खोज निकाला गया है। यह बहुत ही उलझावपूर्ण एवं जटिल है क्योकि इसके बहुत से संदर्भ हैं और क्षेत्र–विशेष के आधार पर इसकी अलग–अलग अभिव्यक्तियॉ भी हैं।, यहां पर एण्ड्रे बेटेल द्वारा राष्ट्रवाद की दी गयी परिभाषा सामान्यतौर पर पर्याप्त है –''राष्ट्रवादिता एक सैद्धांतिक भाव है, राष्ट्रवादी वह है जो प्रत्येक जुड़ी हुई बात को अपनी अधीनता में रखना चाहता है और सम्बद्ध तत्वों के प्रति स्वामिभक्ति रखता है और राष्ट्र, स्वयं अपने एवं अन्य के प्रति समर्पित होता है, निष्ठावान होता है। हिन्दु राष्ट्रवादी और आगे बढ़ता है तथा ऐसे विचारों की कड़ी बनाता है जिन विचारों को उपनिवेशवादियों एंव

भारतीय राष्ट्रवादियों ने गढ़ा है और इस विचार का मूल सार है एक भारतीय के रूप में पहचान का मतलब है हिन्दु के रूप में पहचाना जाना।

इस प्रकार हिन्दु राष्ट्रवादी वह है जो इस मिथक कि भारत की स्थिरता एवं सुरक्षा को आन्तरिक तथा बाह्य खतरा है, के प्रचार के माध्यम से इस प्रकार का अत्याधिक नैतिक दबाव बनाता है कि भारत का मूल हिन्दु ही है और यह कहकर कि देश की रक्षा करना प्रत्येक हिन्दु की देशभक्तिपूर्ण जिम्मेदारी है, ऊपर दिये गये अपने तर्क को सही ठहराता है।

बहुलतावाद के स्मरण के स्थानीय स्रोत :

भारत में धार्मिक रूप से भिन्नता रखने वाले समुदायों के मानवाधिकारों को सम्मान दिलाने के लिए किस तरह की सार्थक–जागरूक एवं निर्णायक पहल की जाय ? हिन्दुत्ववादी प्रवृत्तियों का प्रतिरोध कर रही ताकतों का समर्थन करने के लिए कुछ ठोस तथा सार्थक कदम उठाये जाने चाहिए, पहल की जानी चाहिए। एक सहयोगी पहल के पहले पक्ष के रूप में पहली पहल यह हो सकती है कि यह पता किया जाय कि इस दिशा में कौन सी ऐसी आवश्यक पहल है जो नहीं की जा सकी है और कौन सी ऐसी पहल है जो नहीं की जानी चाहिए। इस एकरूपतावादी, संकीर्ण और वर्चस्ववादी विचार को एक प्रतिमान के रूप में नकारने में सावधानी बरतनी चाहिए। सामान्यतया घटित होता रहता है कि संकीर्णतावाद के एक रूप के खिलाफ संघर्ष करते समय इसी के किसी दूसरे रूप की मदद लेने की लालच से हम बच नहीं पाते, जिसका परिणाम यह होता है कि कट्टरता या संकीर्णतावाद या मूलतत्ववाद के प्रतिमानों के बीच में ही स्पर्धा होती रहती है।

विशेषतौर पर सामाजिक–संघर्षों (मतभेदों) और राजनैतिक अस्थिरता के मौके पर लोग बुनियादी, असंदिग्ध और सरल या कुशल कोटियों को अपनाते हैं, चुनते हैं। आज इस बात की

जरूरत है कि उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी मॉडलों के दायरे से बाहर निकला जाय, जो धार्मिक अभिव्यक्तियों की बहुलता को प्रतिबंधित करता है। ऐसा होने पर ही कोई किसी वैकल्पिक मॉडल को अपने गले लगा सकता है। ऐसा वैकल्पिक मॉडल जो सभी धर्मों को अपनी भिन्नताओं को बनाये रखने का मौका देता हो और मानवीय फ्रेम वर्क में अपनी विशिष्टताओं के संदर्भ में पूर्ण अभिव्यक्ति का अवसर भी देता हो।

हमारे कहने का यह मतलब न निकाला जाय कि हम ऐसी किसी समझ से इत्तफाक रख रहे हैं जिसका मतलब यह निकलता है कि भारत में धर्मातंरण पर रोक लगा दी जाय अर्थात एक धर्म छोड़कर दूसरे धर्म में शामिल होने की मनाही हो। हालॉकि इस मानवाधिकार का संरक्षण भारतीय संविधान में मौजूद है। फिर भी कोई भी ऐसा मॉडल जो धार्मिक या सांस्कृतिक रूप से अन्तर रखने वालों के साथ भेदभाव करता है या बहुलतावाद को कमजोर करता है या विभिन्नता रखने वालों की मर्यादा के विपरीत आचरण करता है, तो उसे स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। भारत का इतिहास हमें बताता है कि जब भी इस एकरूपवादी, संकीर्ण और वर्चस्ववादी मॉडल को संस्थानिक रूप दिया गया है तो यह दोनो स्तरों पर खतरा बना हैः धार्मिक रूप से भिन्नता रखने वालों के मानवाधिकारों तथा धर्मनिरपेक्षता के स्तरों पर। यह धर्म निरपेक्षता राष्ट्र–राज्य की गैर– धार्मिक विशेषता है और भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता की गारण्टी भी दी गयी है।

दूसरे परिणाम के संदर्भ में हमें बहुलतावादी ढांचों को और सशक्त करने की जरूरत है जिससे कि हमारे समुदायों में भिन्नतापूर्ण धार्मिक अभिव्यक्तियों को प्रोन्नत किया जा सके। इसका मुख्य सरोकार यह है कि ऐसे भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक एवं धार्मिक समुदायों, को आगे लाया जाय जिनके अनुभव एवं दावे हिन्दुत्व के सिद्धांतों से भिन्न हैं और जो ऐसी विश्व दृष्टि को प्रोन्नत करना चाहते हैं जो बहुलता को स्वीकार करती है और मतभेदों के प्रति कम उदासीन हैं। इस तरह के मॉडल स्थानीय भारतीय समुदायों

के पास मौजुद हैं, बस इन मॉडल्स को इस रूप में स्वीकार किये जाने की या मान्यता दिये जाने की जरूरत है कि ये मानवीय जीवन जीने की साझी पद्धति के उपयोगी प्रतिमानों के रूप में हैं।

यह एकदम स्पष्ट होना चाहिए कि एक से अधिक धार्मिक–सांस्कृतिक परम्पराओं में सहभागिता का मतलब यह नहीं है कि अवसरवादी तरीके से धार्मिक स्रोतों का अन्धाधुन्ध प्रदर्शन किया जाय। यह ध्यान रखने योग्य है कि अधिकांश स्थानीय धार्मिक विश्व–दृष्टि के दो ढांचे होते हैं– प्राइमरी ढांचा और सेकेण्डरी ढांचा। धर्मांतरण तभी होता है जब कोई प्राइमरी ढांचा किसी दूसरे प्राइमरी ढांचे के साथ आपस में अदला–बदली करता है; जब सेकेण्डरी ढांचा किसी दूसरे सेकेण्डरी ढांचे से अदला–बदली करता है। यह वास्तव में एक आन्तरिक अनुभूति का विषय होता है तथा जिस धर्म का हम अनुपालन कर रहे हैं उसके प्रति प्रतिबद्धता का मामला होता ही है परंतु इससे भी ज्यादा यह (धर्मांतरण) पूर्णरूपेण मानवीय स्व–अभिव्यक्ति का विषय होता है। इन दोनों प्रक्रियाओं में एक अनिवार्य तत्व होता है– आपसी सम्मिश्रण और सर्वगुणता का, जैसा कि रोमन केथोलिक विद्वान राबर्ट शेटर बहुत ही संजीदगी के साथ अपना पक्ष रखते हैं– एक ही समय में घटित होने वाली भिन्नतायें (समकालीन) और सम्मिश्रण आपस में असंम्बद्ध नहीं है बल्कि साझे ढांचों और प्रक्रियाओं को आत्मसात करते हैं।

अतएव अधिकारों पर जोर देना धार्मिक रूप में मानवीय होना चाहिए जिसमें शामिल होता है ''मेरे'' या 'हमारे' धर्म की दुनिया का चुनाव, रूपांतरण एवं स्वीकृति इसका आधार होता है 'मेरा' या 'हमारा' बदलता हुआ अनुभव और यह सब स्थानीय धार्मिक पहचान को बनाने में बहुत ही अहम भूमिका अदा करता है। यह ऐसा नहीं है लोग बिना किसी भेदभाव के दोहरी या बहुतेरी धार्मिक परम्पराओं में शामिल होते हैं। भारत में अनेक धार्मिक समुदाय अपनी विशिष्ट धार्मिक विरासत के साथ पूर्णरूप से प्रतिबंधित होकर रहते हैं लेकिन इसके साथ ही साथ वे आंशिक

मगर स्वेच्छापूर्वक किसी अन्य धर्म या धार्मिक परंपरा को भी मानते हैं। दूसरे के धर्मों से न तो डरने की जरूरत है और न उनको एकदम से खारिज कर देने की जरूरत है, बल्कि यह समझने की जरूरत है कि इनके द्वारा इस तरह के अस्थायी स्थानों–अवसरों का सृजन हो सकता है जो भाईचारा और मेल मिलाप बढ़ाते हैं।

यह सकारात्मक है, अतएव, प्रगतिशील आवाजों को भावनाओं और निरपेक्ष आदर्शों से शरमाकर दूर नहीं हटना चाहिए। हमें धर्म को कट्टरपंथियों के हाथ में गिरवी नहीं होने देना चाहिए और हमें इस बात की भी इजाजत नहीं देनी चाहिए कि आतंकवादी हमारे राष्ट्र के आदर्शों को तय करें। राष्ट्र एक संकीर्ण ईकाई नहीं है– यह किसी एक विशेष नस्ल, धर्म या जातीयताओं की नहीं होती। भारत को राष्ट्रीयतावाद का एक बेहतरीन पहला नमूना बनना चाहिए और यह संदेश अच्छे तौर तरीकों से प्रचारित–प्रसारित तथा लोगों तक पहुॅचाया जाना चाहिए।

2

भारत में लोकतंत्र

लोकतन्त्र शब्द दो तरफ इशारा करता है : एक तरफ यह कुछ आदर्शों का और दूसरी तरफ एक राजनीतिक व्यवस्था का। डेमोक्रेसी (लोकतन्त्र) का शाब्दिक मतलब 'जनता के शासन' से है। डेमोक्रेसी शब्द ग्रीक शब्दों 'डेमास' तथा 'क्राटोस' से मिलकर बना है। डेमास का मतलब लोग (जनता) तथा क्राटोस का मतलब हुकूमत से है अर्थात् 'लोगों की हुकूमत'।

अब्राहम लिंकन (1809–1865) का मत था कि "लोकतन्त्र लोगों के द्वारा, लोगों के लिए, लोगों का शासन है"। महान राजनीति–विज्ञानी जे.डब्लू. गारनर का कहना था कि "लोकतन्त्र को बहुआयामी स्वीकृति प्राप्त है– एक राजनीतिक दर्जा, एक नैतिक सोच तथा एक सामाजिक स्थिति"। जेम्स ब्राइस ने लोकतंत्र की परिभाषा करते हुए कहा कि– (लोकतन्त्र एक ऐसी व्यवस्था है) जिसमें "लोग अपनी इच्छाओं को वोट के द्वारा व्यक्त करते हैं।" सीले के मतानुसार लोकतन्त्र एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें 'सभी का हिस्सा' होता है। अरस्तू के अनुसार "लोकतन्त्र अनेक लोगों का शासन है जो कि समानता की मिथ्या परिकल्पना पर आधारित होता है"। डाइसी का मत है कि "लोकतन्त्र एक ऐसी शासन व्यवस्था है जिसमें शासन के संचालन की शक्ति तुलनात्मक रूप से राष्ट्र के एक बड़े धड़े के पास रहती है।"

लोकतन्त्र के रूप :– मौजूदा समय में दुनिया में लोकतंत्र के अलग–अलग रूप तथा तौर–तरीके हैं जिन्हें सरल ढंग से समझने के लिए निम्नलिखित कोटियों में रखा जा सकता है:–

(अ) सीधा लोकतंत्र :
(एक ऐसी लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था) जिसमें राजनीतिक निर्णय का अधिकार सभी नागरिकों को सामूहिक रूप से सीधे तौर पर प्राप्त होता है। ऐसे निर्णय लेते समय बहमुत की राय मान्य की जाती है।

स्विटजरलैण्ड एक ऐसा देश है जहां पर सीधे लोकतंत्र की कुछ निश्चित व्यवस्थायें हैं जो सीधे लोकतंत्र के गुणों को दर्शाती है। उदाहरण के तौर पर–

(1) जनमत संग्रह (रेफरेण्डम): जिसके जरिये सीधे तौर पर लोग सरकार के फैसलों या नीतियों के बारे में अपनी राय व्यक्त करते हैं।

(2) जन प्रतिनिधियों को वापस बुलाना : लोगों को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वे कार्यकाल पूरा होने से पूर्व भी ऐसे निर्वाचित प्रतिनिधि को वापस बुला सकते हैं, जब वह लोगों के हित के खिलाफ कार्य कर रहा हो।

(3) नये कानून का सुझाव : किसी ऐसे कानून के बारे में लोग प्रारंभिक तौर पर सुझाव देकर पहल कर सकते हैं जिसे बनाना (पारित करना) लोग जरूरी मानते हैं।

(4) राजनीतिक राय : किसी खास राजनीतिक मसले पर राय व्यक्त करने का लोगों को अधिकार प्राप्त है।

(ब) प्रतिनिधिक लोकतंत्र :
लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का एक ऐसा रूप जिसमें नागरिक उपरोक्त अधिकारों का इस्तेमाल सीधे तौर पर नहीं करते बल्कि अपने द्वारा निर्वाचित ऐसे प्रतिनिधियों के द्वारा करते हैं जो उनके प्रति जवाबदेह हैं।

(स) संवैधानिक लोकतंत्र :
लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का एक ऐसा रूप जो प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र की ही तरह होता है। इसमें संवैधानिक व्यवस्था के

प्रावधानों–नियमों के अनुसार बहुमत अपने अधिकारों का प्रयोग करते हुए शासन व्यवस्था का संचालन करता है। परंतु बहुमत को यह गारण्टी करनी होती है कि संविधान के तहत नागरिकों को प्राप्त निजी तथा सामूहिक अधिकारों जैसे अभिव्यक्ति की आजादी, धार्मिक आजादी आदि लोगों को हर स्तर पर प्राप्त रहे।

लोकतंत्र के मूल्य (वैल्यूज़) :

आजादी, समानता, स्वायत्तता, मौलिक अधिकार, सामाजिक न्याय आदि मूल्यों के मौजूद रहने की गारण्टी किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था की पूर्वशर्त है। इस तरह की लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के रूप अलग–अलग हो सकते हैं, उनमें यह भिन्नता इस आधार पर होती है कि वे किन बुनियादी वसूलों या मूल्यों (आजादी, स्वायत्तता या समानता) को खास अहमियत देते हैं। उदाहरण के तौर पर–

(अ) आजादी के मूल्यों को खास अहमियत देने के नाते यूरोप 'न्यू राइट' या उदारवाद की तरफ बढ़ा। इस अवधारणा या सिद्धान्त के सिद्धांतकार नोचिक और हेइक हैं। यह उदारतावादी राज्य के रूप–स्वरूप के सुधार तथ खुली बाजार व्यवस्था के हिमायती हैं।

(ब) समानता के मूल्य को खास अहमियत होने के नाते 'सामाजिक लोकतंत्र' की अवधारणा की जमीन तैयार हुई। 'सामाजिक लोकतंत्र' के विचार का सी.बी. मैकफरसन तथा केरोल पैटमैन द्वारा प्रचार–प्रसार किया गया। 'सामाजिक लोकतंत्र' समाज के लोकतांत्रीकरण की बात करता है अर्थात् समाज के तौर तरीकों रीति–रिवाजों और खासतौर पर विश्वासों जिसे ब्राइस ''परिकल्पनाओं की समानता'' कहते हैं, के लोकतांत्रीकरण को ज्यादा महत्व देता है।

(स) स्वायत्तता के मूल्य को खासतौर पर रेखांकित किये जाने की वजह से 'सहभागी लोकतंत्र' की अवधारणा का जन्म हुआ। 'सहभागी लोकतंत्र' की अवधारणा समुदाय पर अधिक जोर देता है। इस सिद्धान्त के मुख्य चिंतकों में जॉन स्टुअर्ट मिल तथा रूसो हैं।

(द) स्वायत्तता के मूल्य को विशेष महत्व देते हुए जब इसका आजादी तथा समानता के मूल्यों के साथ सीधा तथा बेहतर गठजोड़ होता है, तब ''संवाद आधारित लोकतंत्र'' (डेलीबरेट डेमोक्रेसी–डी.डी.) की स्थिति बनती है। ''संवाद आधारित लोकतंत्र'' की अवधारणा के एक सिद्धांतकार डेविड मिलर इसे इस तरह परिभाषित करते हैं– ''(संवाद आधारित लोकतंत्र) एक ऐसी स्थिति है जहां पर इसके सदस्य खुली बहस के जरिये किसी राजनीतिक फैसले पर पहुंचते हैं, इस बहस या वाद–विवाद में यह ध्यान रखना होता है कि प्रत्येक सदस्य पूरी आजादी से इसमें हिस्सेदारी करे और अपना योगदान कर सके। साथ ही साथ वह दूसरों की बात को भी सुनने का इच्छुक हो और अपने मत के विरुद्ध व्यक्त किये गये विचारों को भी अहमियत दे जिससे कि लोगों के पूर्वाग्रह या पूर्व अनुमानित हित के आधार पर ही फैसला न हो बल्कि एक दूसरे के विचारों के आदान प्रदान के द्वारा एक नयी सोच या अवधारणा का निर्माण किया जा सके।''

लोकतंत्र के बुनियादी सिद्धांत :

(अ) **सत्ता का विकेन्द्रीकरण:** एक राज्य की मशीनरी के अधिकारों में बंटवारा करना जिससे कि यह तय माना जा सके कि किसी के साथ कोई भेदभाव का रवैया नहीं अपनाया जा रहा है।

(ब) **बहुमत का शासन:** अपने मताधिकार का प्रयोग करते हुए नागरिकों के बहुमत द्वारा चुने गये जन प्रतिनिधियों द्वारा सरकार का गठन करना।

(स) **कानून का राज:** संवैधानिक व्यवस्था के अनुरूप शासन व्यवस्था चलाना, यह किसी कानून के राज तथा सीमित–संतुलित शासन के लिए एक महत्वपूर्ण स्थिति है। इसकी निगरानी राज्य तथा व्यक्ति के रिश्ते को आधार बनाकर की जा सकती है क्योंकि व्यक्तिगत अधिकार राज्य के अधिकार को सीमित करते हैं।

(द) **लोकतंत्र को कैसे तौलें?**लोकतंत्र को मापने–तौलने के बारे में राबर्ट डेल ने दो संकेतक बताये हैं : सार्वजनिक प्रतिरोध (जनता द्वारा विरोध की पराकाष्ठा और राजनैतिक प्रतिद्वंदिता) और भागेदारी का अधिकार। (जनता द्वारा विरोध व्यक्त करने के तंत्र में वोट के माध्यम से विरोध दर्ज कराना तथा वोट के जरिये पद पाने हेतु संघर्ष करना–चुनाव लड़ना)। यह दोनों संकेतक लोकतांत्रीकरण के लिए अनिवार्य हैं। स्वतंत्र एवं निष्पक्ष मताधिकार के महत्व को बताते हुए सैमुअल पी. हटिंगटन ने 'द थर्ड वेव' में कहा कि– असहमति का अधिकार ''लोकतंत्र का मूल तत्व है। चुनाव के द्वारा निर्वाचित की गयी सरकार अक्षम, भ्रष्ट, अदूरदर्शी, गैर जिम्मेदार, विशेष हितों के अधीन नियंत्रित और जनहित में चाही जा रही नीतियों को लागू करने में असक्षम हो सकती है।

उपरोक्त वर्णित विशेषतायें किसी सरकार को अनचाही बना देती हैं परन्तु दूसरी तरफ यह विशेषतायें सरकार को अलोकतांत्रिक नहीं बनातीं। लोकतंत्र एक सार्वजनिक नैतिकगुण है मगर एकमात्र सार्वजनिक नैतिक गुण नहीं । लोकतंत्र के अन्य सार्वजनिक नैतिक गुणों और बुराइयों से कायम आपसी सम्बंधों को साफ तौर पर तभी समझा जा सकता है जबकि राजनीतिक व्यवस्था की अन्य विशेषताओं और लोकतंत्र के बुनियादी गुणों के फर्क को बखूबी समझा जा सके। डेविड बेथम (लोकतन्त्र के सम्बन्ध में) ''लोकप्रिय नियंत्रण'' और ''राजनीतिक समानता'' के दो बुनियादी सिद्धान्तों पर जोर देते हैं।

भारतीय लोकतंत्र

भारत एक लोकतांत्रिक देश है और इसका संविधान सर्वोच्च है। अपने उपनिवेशकालीन ब्रिटिश शासकों से भारत ने संसदीय व्यवस्था को उधार लिया था। इस व्यवस्था में राष्ट्रपति को प्रतीकात्मक/पदेन प्रमुख पद प्राप्त है। भारत शुरूआती और बुनियादी स्तर पर ही लोकतंत्र तथा इससे सम्बद्ध मूल्यों के प्रति समर्पित रहा है। इसने भारतीय संविधान में व्यक्त संकल्प के द्वारा ही भारतीय समाज को

लोकतंत्र से युक्त बनाया है। हमारे संविधान की उद्देशिका कहती है :– हम, भारत के लोग, भारत को (संपूर्ण प्रभुत्व – संपन्न समाजवादी, पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य) बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकोंको : सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और (राष्ट्र की एकता और अखंडता) सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारिख 26 नवम्बर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

भारतीय संविधान की उद्देशिका एक ऐसे उपकरण के रूप में इस्तेमाल की जा सकती है जिसके जरिए भारतीय लोकतंत्र की कामयाबियों और गैर कामयाबियों को मापा जा सकता है। इस विषय पर हम आगे चलकर और विस्तार से बातचीत करेंगे।

भारतीय संविधान ने अपने नागरिकों को ऐसे अधिकारों से लैश किया है जिससे वे राज्य के बेतहाशा हस्तक्षेपों– दायरों को सीमित करते हैं। इस संबंध में भारतीय संविधान के तीसरे भाग में 'मौलिक अधिकारों' के नाम पर संविधान के अनुच्छेद 12 से 32 तक का प्रावधान किया गया है। संविधान के इस भाग में नागरिकों को दिये गये मौलिक अधिकारों को 6 कोटियों में बांटा गया है :–

(अ) समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14 से 18 तक)

(ब) स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19 से 22 तक)

(स) शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23 एवं 24 तक)

(द) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25 से 28 तक)

(य) सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार (अनुच्छेद 29 एवं 30 तक)

(र) संवैधानिक उपचार का अधिकार (अनुच्छेद 32)

व्यक्तिगत अधिकारों की प्राप्ति की गारण्टी के साथ ही भारतीय संविधान ऐसे तमाम मूल्यों को उच्च स्थान प्रदान करता है जो लोकतन्त्र के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध हैं। भारतीय लोकतंत्र के अध्ययन को हम दो कोटियों में रख सकते हैं :–

(अ) प्रक्रियागत (फारमल) लोकतंत्र : इसका मतलब है निष्पक्ष एवं स्वतंत्र चुनाव–विधायिकाओं एवं संवैधानिक सरकार का। विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के अधिकारों, अधिकार क्षेत्रों का वास्तविक बंटवारा। सरकार चुनने में लोगों की राजनैतिक भागेदारी। स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव की गारण्टी।

(ब) मौलिक (सारगर्भित) लोकतंत्र : वास्तविक लोकतंत्र या सारगर्भित लोकतंत्र का मतलब ऐसे लोकतंत्र से है जहां पर सभी नागरिक समान हों, जो राजनीतिक तौर पर जागरूक हों, उनमें विभिन्न विचारों और विभिन्न जीवन पद्धतियों के बारे में सहनशीलता हो और उनमें सरकार का चुनाव करते समय या सरकार की जवाबदेही सुनिश्चित करते समय एक समान आवाज हो।

प्रक्रियागत लोकतंत्र में ऐसे सामाजिक और आर्थिक असमानताओं की अनदेखी की जाती है जो कि लोकतंत्र के सकारात्मक परिणामों को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण हैं। अतएव सारगर्भित (मौलिक) लोकतंत्र के पक्षधर यह तर्क देते हैं कि जब तक कि सभी नागरिकों को समान नागरिक अधिकारों की सार्थक गारण्टी नहीं सुनिश्चित करायी जाती तब तक लोकतंत्र की परियोजना फलीभूत नहीं हो सकती।

भारतीय लोकतन्त्र का क्रमिक विकास : भारतीय लोकतंत्र के विकास के इतिहास को तीन दौर में बांटा जा सकता है– (1) नेहरू के दौर का लोकतंत्र (2) इन्दिरा के दौर का लोकतंत्र (3) भूमण्डलीकरण के दौर का लोकतंत्र

नेहरू और लोकतंत्रः

नेहरू के विचारों में ''मनुष्यों पर शासन करने की जितनी विधियां

हमारे पास उपलब्ध हैं लोकतंत्र उनमें सर्वोत्तम है। लोकतंत्र एक व्यक्ति को विकसित होने का पूरा मौका देता है और यहां पर अनुशासन स्व अनुशासन के रूप में होता है। लोकतंत्र का अन्तिम मकसद गरीब और अमीर के बीच कायम फर्क को खत्म करना है।'' नेहरू की लोकतंत्र के प्रति समर्पण की भावना को उनके द्वारा किये गये कामों– विपक्ष के प्रति, प्रेस के प्रति तथा उनके प्रति जिनसे वे असहमति रखते थे के संदर्भ में उनके द्वारा दर्शायी गयी सम्मान की भावना, के जरिये बखूबी देखा–समझा तथा महसूस किया जा सकता है।

भारतीय लोकतंत्र जब अपनी नवजात स्थितियों में था तो कई चिंतकों ने भारतीय समाज की विभिन्नताओं तथा अन्तर्निहित मतभेदों को आधार बनाते हुए यह राय जाहिर की थी कि भारतीय लोकतंत्र ज्यादा दिनों तक जिंदा नहीं रह पायेगा। जान स्टुअर्ट मिल (वर्ष 1958) ने यह कहा था कि ''ऐसे समाज में जो बहु–नस्लीय है वहां लोकतंत्र असंभव के बाद वाली श्रेणी में आता है और ऐसे समाज में जो बहुभाषीय है वहां लोकतंत्र पूर्णतया असंभव है। मिल की ही बातों को और भड़कीला रूप देते हुए भारतीय लोकतंत्र की असफलता या देश के बंटवारे को देखकर वर्ष 1960 में सेलिग एस. हेरिसन ने भविष्यवाणी ही कर डाली थी– ''(भारत में मौजूद) विषम परिस्थितियां पूरी तौर पर आजादी के बरकरार रखे जाने के खिलाफ हैं..... और खास मुद्दा यह है कि शायद ही कोई भारतीय राज्य अपना अस्तित्व बचा पाये''।

इस प्रकार आजाद भारत के पहले प्रधानमंत्री के रूप में नेहरू के सामने कई गंभीर चुनौतियां थीं– राष्ट्र निर्माण, आर्थिक विकास और भारत में धर्म निरपेक्षता की स्थापना। एक कुशल उदारवादी नेता के बतौर नेहरू ने नवस्वाधीन भारत के सभी नागरिकों से अपील की कि वे अपने मतभेदों को समाप्त करके अपने देश के विकास के लिए एकजुट प्रयास करें। उन्होंने 'विभिन्नता में एकता' का आह्वान किया और कहा कि ''भारत की एकता के पीछे विशाल एवं खूबसूरत विभिन्नतायें मौजूद हैं। यदि आप मेरे साथ यात्रा करें तो पायेंगे कि

भारत के सुदूर उत्तरी भाग में जिसे कश्मीर कहते हैं तो आप वहां ऊंचे हिमालय पहाड़ के ऊपर से गुजरेंगे वहां बरफ ही बरफ तथा ग्लेशियर्स पायेंगे। यदि आप कश्मीर से और आगे तिब्बत तथा लद्दाख जायें तो वहां पर भूमि का एक विशाल भू–भाग मिलेगा जिस पर एक भी पेड़ नहीं है, वहां पर डरावनी ठंढ पड़ती है। यदि आप भारत के दक्षिणी हिस्से के ट्रावनकोर में जायें तो वहां आप लद्दाख के ठीक उलट मौसम पायेंगे। यह स्वाभाविक है कि यदि जलवायु अलग होती है तो उसी के मुताबिक लोगों के जीने के तरीके भी अलग होते हैं। वहां के लोग अन्य स्थानों के लोगों से अलग दिखते हैं। मैं अभी मद्रास से आया हूं। मद्रास एक बड़ा, सुंदर और आकर्षक शहर है जो कि उत्तर भारत में स्थित शहरों से बिलकुल अलग है। क्या मेरे लिए यह उचित होगा कि चूंकि मैं इस वक्त दिल्ली में रह रहा हूं इसलिए मद्रास या बम्बई को दिल्ली या इलाहाबाद (जहां मेरा जन्म हुआ था) या कश्मीर (जहां से मेरा परिवार आया है) की तरह बनाऊं? मैं ऐसा नहीं कर सकता और न ऐसा करना चाहता हूं। मैं भारत की विभिन्नताओं अनेकताओं को पसंद करता हूं। (19 अक्टूबर 1952 को शिलांग की एक जन सभा में नेहरू द्वारा दिये गये भाषण का अंश)।

नेहरू के आर्थिक विचार एवं नीतियां ब्रिटेन के उन सोशलिस्टों के द्वारा प्रभावित थीं जो ब्रिटेन में 'फेबियन सोशलिस्ट' के तौर पर जाने जाते थे। अतएव नेहरू ने गांधी जी के ग्राम आधारित अर्थव्यवस्था के मॉडल की बजाय भारी औद्योगीकरण के रास्ते को चुना। उन्होंने मिली–जुली अर्थव्यवस्था की वकालत की। आर्थिक सेक्टर में वे राज्य के नियंत्रण के कठोर हिमायती थे। देश को राजनीतिक आजादी से ऊपर उठाकर आर्थिक आजादी तक पहुंचाने, देश में भू–स्वामियों और भूमिहीनों के बीच बरकरार असमानता (भेद) को कम करने के लिए उन्होंने भूमि के पुनः बंटवारे के लिए नये कानूनों का सृजन करवाया। वर्ष 1951 में पंचवर्षीय योजना की शुरूआत की घोषणा नेहरू के तमाम आर्थिक सुधारों में प्रमुख थी। पंच वर्षीय योजना की घोषणा इसलिए की गयी थी जिससे कि विकास के महत्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे कृषि, उद्योग तथा शिक्षा आदि में सरकारी खर्चों–वरीयताओं और

ग्राण्ट आदि को तय किया जा सके।

जहां तक धर्म निरपेक्षता का सवाल है नेहरू ने कई उदाहरण देने योग्य कार्य किये। नेहरू ने कभी किसी धर्म को किसी दूसरे धर्म की तुलना में ज्यादा अहमियत नहीं दी। उन्होंने हिन्दू धर्म के संदर्भ में सुधार सम्बन्धी कदम उठाये जिससे कि समाज के सभी लोगों के हौसले, साहस को बढ़ाया जा सके। हिन्दू कोड बिल (1955) तथा छुआछूत के संदर्भ में बनाये गये कानून इसके उदाहरण हैं।

लोकतंत्र के मूल्यों जिनका जिक्र ऊपर किया गया है पर नेहरू का पूरा विश्वास था। उन्होंने लोकतन्त्र को संस्थागत स्वरूप देने तथा सशक्त करने के लिए कठिन परिश्रम किया। नेहरू ने उन सिद्धांतों को व्यवहार में उतारा जिन्हें वे लोकतंत्र के लिए महत्वपूर्ण और समुचित मानते थे। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (प्रेस), स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव, सामुदायिक विकास कार्यक्रम (1952) और पंचायती व्यवस्था का सूत्रपात आदि कुछ ऐसी पहल हैं जिनको नेहरू ने एक आकार तथा आयाम दिया। प्रेस की स्वतंत्रता पर संसद में (29 मई 1951 को संसद में दिया गया नेहरू का वक्तव्य) अपनी बात रखते हुए नेहरू ने कहा– ''मैं प्रेस की स्वतंत्रता के मुद्दे पर पूर्णतया सहमत हूं। आधुनिक समाज में खासतौर पर लोकतांत्रिक समाज में प्रेस हमारे सामाजिक लोकतांत्रिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है।'' प्रेस के संदर्भ में संसद में 16 मई 1951 को बोलते हुए नेहरू ने कहा था– ''प्रेस के पास तमाम अधिकार और जिम्मेदारियां हैं। प्रेस का सम्मान तथा सहयोग निश्चित तौर पर किया जाना चाहिए।'' समाचार पत्रों के सम्पादकों के सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए 3 दिसंबर 1950 को नेहरू ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा– ''मेरी समझ से प्रेस की आजादी का मसला बड़े स्तर पर दिया जाने वाला नारा मात्र नहीं है बल्कि यह लोकतांत्रिक प्रक्रिया का एक अनिवार्य गुण है। मेरे मन में इस बात पर जरा सा भी संदेह नहीं है कि प्रेस की आजादी के साथ किसी भी प्रकार की दखलंदाजी नहीं की जानी चाहिए और तब भी नहीं जब सरकार प्रेस द्वारा ली जा रही आजादी को नापसंद कर रही हो और इसे खतरनाक भी मान रही हो। प्रेस की आजादी के

साथ छेड़छाड़ हर हालत में अनुचित है। तमाम तरह के प्रतिबंध लगाकर आप कोई बदलाव नहीं ला सकते, हां प्रतिबंधों के जरिये आप लोगों की भावनाओं की अभिव्यक्ति को दबा सकते हैं और इस प्रकार जिन बातों को आप दबाना चाहते हैं वे प्रतिबंधित होने के कारण और ज्यादा प्रचार–प्रसार पा जाती हैं। इसलिए मैं दबाकर रखे गये और नियंत्रित प्रेस की बजाय पूर्णरूप से स्वतंत्र प्रेस का पक्षधर हूं भले ही इस स्वतंत्रता के दुरूपयोग की तमाम संभावनायें मौजूद हों।''

नेहरू को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने उदारता के मूल्यों को हकीकत में उतारा और वे इस श्रेय के हकदार भी हैं। लेकिन उनके प्रगतिशील कार्यक्रम तथा उनके व्यक्तित्व का करिश्मा धीरे–धीरे धूमिल, बेरंग होने लगा। उनके आर्थिक कार्यक्रम उम्मीद के मुताबिक परिणाम नहीं दे पाये, फलीभूत नहीं हो पाये। जहां तक भूमि सुधार का सवाल है कांग्रेस के राज्य स्तरीय नेताओं ने इसका समर्थन नहीं किया। फलतः विसंगतियों एवं गलतियों से भरे भूमि सम्बन्धी कानून बने जिन्होंने भू–स्वामियों (जिनके पास संरक्षित भूमि थी) एवं भूमिहीनों के बीच मौजूद असमानता को और तीखा बना डाला। बेरोजगारी तथा निर्धनता तेजी के साथ बढ़ी और इसने नक्सलवाद तथा साम्प्रदायिकता के लिए उपजाऊ जमीन तैयार की।

वर्ष 1961 में 92 दंगे हुए। 2 दिसंबर 1963 को श्रीनगर के हजरतबल दरगाह से एक धार्मिक मान्यता प्राप्त स्मृति चिन्ह के गायब हो जाने से भीषण दंगे फैल गये। इसी खतरनाक कड़ी में वर्ष 1964 के जनवरी माह में कलकत्ता का शरारतपूर्ण दंगा भी था जो कलकत्ता शहर के आस पास के 215 गांवों में फैल गया। इस दंगे में एक अनुमान के मुताबिक 1500 मुसलमानों का कत्ल कर दिया गया। इन दंगों का सबसे खतरनाक और घिनौना चेहरा टाटा एवं मरसडीज–बेंज के साझे में चलने वाले लोकोमोटिव एवं ट्रक फैक्ट्री (टेल्को) में था। राउरकेला में तकरीबन 5000 मुसलमान कत्ल कर दिये गये (मुशीरउल हक : इस्लाम इन सब कांटिनेंट– मुस्लिम इन प्लूरल सोसाइटी, नयी दिल्ली 2002, पृष्ठ 374)। हालांकि नेहरू ने

धर्म निरपेक्षता को भारत में प्रश्रय एवं संरक्षण देने का पूरा प्रयास किया मगर कांग्रेस के अंदर और बाहर मौजूद तत्वों (धर्म निरपेक्षता विरोधी) तथा स्थानीय स्तर के नेता इस विचार के विरुद्ध थे। फलतः तमाम कोशिशों के बाद भी नेहरू धर्म निरपेक्षता को एक संस्थागत रूप न दे सके– न तो राजनीति में और न ही नागरिक समाज में।

इन्दिरा गांधी और लोकतंत्र :

इन्दिरा गांधी और लोकतंत्र के बारे में बातचीत शुरू करने से पहले ही यह बात बुनियादी तौर पर साफ हो जानी चाहिए कि श्रीमती इन्दिरा गांधी के शासनकाल ने लोकतंत्र के सभी बुनियादी सिद्धांतों की धज्जियां उड़ायीं। उनके शासनकाल में कुछ तत्व उभरकर सामने आये– सत्ता का केन्द्रीयकरण, भ्रष्टाचार, प्रेस का दमन– उत्पीड़न, समर्पित नौकरशाही के नाम पर चापलूस अफसरशाही।

जब श्रीमती इन्दिरा गांधी ने प्रधानमंत्री का पद संभाला तो उस वक्त उनकी पार्टी (कांग्रेस) राजनीतिक धड़ेबन्दी की बीमारी से घिरी हुई थी और कांग्रेस पार्टी के पुराने दिग्गज नेताओं और श्रीमती गांधी के बीच में दुराग्रहपूर्ण संघर्ष छिड़ा हुआ था। पार्टी के अनुभवी नेताओं (सिंडीकेट) का सामना करने के लिए श्रीमती इन्दिरा गांधी ने पार्टी में बंटवारे के रास्ते को चुना तथा सत्तासीन होने के लिए भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सी.पी.आई.) का दामन थामा। इसका परिणाम था ''गरीबी हटाओ'', बैंकों का राष्ट्रीयकरण, राजाओं–नवाबों को दिये जा रहे प्रिवी पर्स का खात्मा। श्रीमती इंदिरा गांधी के शासनकाल में भ्रष्टाचार अपनी पराकाष्ठा पर था जिसके फलस्वरूप श्रीमती इन्दिरा गांधी की हुकुमत के खिलाफ जय प्रकाश नारायण की अगुआई में सम्पूर्ण क्रान्ति आन्दोलन खड़ा हुआ।

तब तक श्रीमती इन्दिरा गांधी की सत्ता बरकरार रखने की हलकी–फुलकी कोशिश बहुत गहराई तक पहुंच चुकी थी। अपने उद्देश्य की प्राप्ति (सत्ता पर नियंत्रण) के लिए श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किसी भी प्रकार के नियम–कायदे–कानून, नैतिक–चारित्रिक परम्पराओं या राजनीतिक–संवैधानिक प्रावधानों को तोड़ने में न तो

कोई कसर छोड़ी और न ही किसी की आंख बचाकर यह सब किया और उन्होने यह सब करने में पलक झपकने भर की भी देर नहीं लगायी। उनके आचरण तथा कारनामों ने देश की सामाजिक तथा राजनीतिक स्वस्थ परम्पराओं को अपूरणीय क्षति पहुंचायी जिसके द्वारा उन्होंने अनैतिकता तथा भ्रष्टाचार को एक वैधानिक रूप देने का प्रयास किया था।

जहां एक तरफ जवाहर लाल नेहरू ने निश्चित तौर पर राजनैतिक संस्थानों की पूरी कड़ी के निर्माण की अगुआई की वहीं पर उनकी बेटी श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इन सबको कमजोर करने की मुहिम की संचालक तथा नियंता बनकर सामने आयीं। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने स्वयं के मामले (इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा उनके चुनाव को अवैध घोषित करने से उत्पन्न परिस्थिति) को लेकर अपने निजी फायदे के लिए संविधान में संशोधन कराया। पद एवं गरिमा के अनुरूप प्राप्त विशेषाधिकारों का इस्तेमाल विशेष परिस्थितियों के बजाय सामान्य रूप से किया जाने लगा। साथ ही साथ ऐसे नये–नये अधिकारों की प्राप्ति कर ली गयी जिससे प्रेस को निर्जीव (पालतू) बना दिया जाय तथा बिना कोई मुकदमा चलाये लोगों को जेलों में निरूद्ध किया जा सके। इस बीच में सबसे नुकसानदेह मामला था– केन्द्र राज्य सम्बन्धों में पैदा हो रही दरार का। इससे भारतीय राज्य के संघीय स्वरूप को झटका लगा फलतः श्रीमती गांधी के ही शासन काल में एक प्रकार से भारत के संघीय स्वरूप के विखण्डन का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ।

श्रीमती गांधी के दौर में गलत ढंग से सत्ता के केन्द्रीयकरण तथा सत्ता के ध्रुवीकरण की प्रवृत्ति केवल केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में ही नहीं बल्कि केन्द्रीय स्तर के संस्थानों में भी देखी जा सकती है। प्रधानमंत्री सचिवालय का विस्तार करके केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की शक्ति और प्रभाव को कम से कमतर किया गया। इतना ही नहीं केंद्रीय मंत्रिमण्डल की शक्तियों को उस वक्त करारा झटका दिया गया जब प्रधानमंत्री सचिवालय के हाथों में सुरक्षा बलों पर नियंत्रण, इन्टेलीजेंस एजेंसीज का नियंत्रण सौंप दिया गया। प्रधानमंत्री सचिवालय में निजी

तौर पर विश्वस्त सलाहकारों की नियुक्ति तथा उनको दिये गये असीमित घोषित–अघोषित अधिकारों ने मंत्रिमण्डल के अधिकारों को और सीमित कर दिया।

इसके अलावा श्रीमती इन्दिरा गांधी के शासन काल में सुसंगठित लोकतान्त्रिक वैधानिक संस्थानों को तहस नहस करने की प्रक्रिया से संसद, अफसरशाही और यहां तक कि न्यायपालिका भी अछूती न रही। प्रशासन भी इस प्रक्रिया से किसी प्रकार का लाभ हासिल नहीं कर रहा था, संसदीय समितियों के द्वारा की जा रही जांच से सरकारी उच्च अधिकारी उतना परेशान नहीं थे जितना कि इस बात से कि उनको काम क्या किया जायेगा, उनके पास काम बचेगा या जायेगा? जब श्रीमती इन्दिरा गांधी ने यह घोषित किया कि किसी अधिकारी में 'समर्पण' का गुण आवश्यक है तब से अधिकारियों के दिमाग में एक अनिश्चितता की स्थिति बन गयी थी। हालांकि यह घोषणा सामान्य लग रही थी परंतु इसका साफ मतलब था कि किसी भी अधिकारी के लिए बिना किसी भय या पक्षपात के काम करने के अलावा कुछ और भी करने की अपेक्षा है। जो भी अधिकारी चाटुकारिता करेगा या अपेक्षित भूमिका निभायेगा उसे ढूंढ लिया जायेगा तथा बड़ी तेजी के साथ उसकी पदोन्नति, स्थानान्तरण तथा नियुक्ति की जायेगी। इस हालात में लगन एवं निष्ठा से कार्य करने की स्थितियां बन ही नहीं सकती थीं। न्यायपालिका में भी इसी तरह के मापदण्ड अपनाये गये, वरिष्ठता तय करने के स्थापित तरीकों को बदलकर उसके स्थान पर निजी स्वामिभक्ति तथा राजनैतिक भक्ति का मापदण्ड अघोषित रूप से क्रियान्वित किये जाने लगा।

भूमण्डलीकरण एवं लोकतंत्र :

श्रीमती इन्दिरा गांधी के राजनीतिक तौर तरीकों–कारनामों का प्रभाव उनके शासन काल की समाप्ति के बाद भी जारी रहा। परंतु भूमण्डलीकरण ने शासन के तौर तरीकों को बड़े पैमाने पर प्रभावित किया। आज जारी भूमण्डलीकरण के दौर में तमाम विरोधाभासी प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं।

एक तरफ तो यह देखने में साफ–साफ नजर आ रहा है कि अमीर और अमीर तथा गरीब और गरीब हुए हैं। वहीं दूसरी तरफ गरीब तबके ने लोकतांत्रिक संस्थानों में लगातार अपना विश्वास व्यक्त किया है और इस तबके के लोग, खासतौर पर ग्रामीण निर्धन वर्ग एक बहुत बड़ी संख्या में अपने मताधिकार का प्रयोग करता रहा है। मताधिकार में गरीबों की व्यापक हिस्सेदारी को कुछ लोग ''लोकतन्त्र की मजबूती'' के रूप में रखते हैं। सरकार के द्वारा बनायी जाने वाली नीतियों का जोर मध्यम वर्ग तथा उद्योगों को लाभ पहुंचाने का होता है। मध्यम वर्ग को रोजगार देने वाले उद्योगों को टैक्स आदि में रियायतें तथा छूट भी सरकार द्वारा दी जाती है। इस दौर में राजनीति और शासन का पंचायतीराज संस्थानों द्वारा लोकतांत्रीकरण भी देखा जा सकता है और साथ ही साथ इसी दौर में सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियां भी साफ साफ देखी जा सकती हैं। केन्द्रीय सरकार की सत्ता और अधिकारों का वर्चस्व कायम करने की केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति ने राज्य सरकारों की औकात को कमतर किया है। गठबंधन राजनीति की बढ़ती मौजूदा हालात ने क्षेत्रीय दलों को स्थितियों को बनाने तथा बिगाड़ने की शक्ति प्रदान की है– जिसका प्रभाव कई राज्यों में दिखाई देता है। क्षेत्रीय दलों की यह स्थिति केन्द्रीय स्तर पर दो ध्रुवीय राजनीतिक समीकरण के उदय को भी लगातार बढ़ा रही है।

उदारीकरण–निजीकरण एवं भूमण्डलीकरण (एल.पी.जी.) के इस दौर में आज लोकतंत्र ऐसी कोटि में पहुंच गया है जहां पर राष्ट्र राज्य अपना अस्तित्व खो चुका है तथा अमरीकी साम्राज्यवाद की मुट्ठी में कैद है। इसलिए आज लोकतंत्र की सफलता को मापने के लिए बाजार की स्थिति को मानदण्ड के तौर पर अपनाया जा रहा है। (यह कहा जा रहा है कि) यदि बाजार बढ़ रही है तो यह माना जाय कि लोकतंत्र भी बढ़ रहा है। अतएव भारतीय जनता पार्टी (बी.जे.पी.) के लिए भारत 'शाइनिंग' (चमक रहा था) और कांग्रेस के लिए 'इनक्रेडिबल' (अतुल्य) था।

सरकार को उन किसानों की कोई चिन्ता नहीं है जो भूमण्डलीकरण

के प्रभाव के नाते आत्महत्या करने को बाध्य हुए। मौजूदा समय के आंकड़े यह बताते हैं कि हमारे देश में प्रतिदिन औसतन 50 किसान आत्महत्या कर रहे हैं। एक विश्वस्त अनुमान के मुताबिक वर्ष 1997 से अब तक देश में 2,16,500 किसानों ने आत्महत्या की और अकेले वर्ष 2009 में 17,368 किसानों ने आत्महत्या की। किसी को उन लोगों की चिंता नहीं जो बिना किसी सुनवायी के सालों से जेलों में पड़े हैं और न ही किसी को इस बात की फिकर है कि समयबद्ध सुनवायी करने–फैसले देने में न्याय व्यवस्था असफल रही है। न्याय प्रणाली की यह अक्षमता उच्च न्याय प्रणाली के हाल के रिकार्ड से एकदम स्पष्ट होती है। न्याय प्रणाली ने नागरिक अधिकारों, सामाजिक–आर्थिक अधिकारों तथा पर्यावरण के संरक्षण जैसे महत्वपूर्ण मामलों को कम अहमियत दी है तथा इन मामलों को दोयम दर्जे पर रखा है तथा 'आतंकवाद के खिलाफ युद्ध' विकास तथा कारपोरेट के हितों को नंबर एक के दर्जे में रखा है। अपने उन दायित्वों, जिसके अन्तर्गत सुप्रीम कोर्ट को जनहित से सम्बन्धित विवादों को निपटाने की गंभीर जिम्मेदारी वाली संस्थान की मान्यता प्राप्त है, से दूर भागते हुए सर्वोच्च न्यायालय सामाजिक–आर्थिक रूप से पिछड़े लोगों के हितों के खिलाफ कार्य करने का झुकाव दिखा रहा है।

किसी को भी बढ़ती बेरोजगारी तथा नियमित कामों के आकस्मिक होने और इनके नकारात्मक राजनैतिक परिणामों, प्रभावों तथा उत्पन्न हो रही नयी राजनैतिक– सामाजिक चुनौतियों की फिक्र नहीं है। इनका परिणाम यह हुआ है कि वर्ग की राजनीति टूटी है और इसका स्थान पहचान, मण्डल के नाम पर जाति का राजनीतिकरण और कमण्डल के नाम पर साम्प्रदायिकता की राजनीति– इस दौर के लोकतंत्र के खास मुद्दे बनकर उभरे हैं।

मण्डल कमीशन की संस्तुतियों के संदर्भ में जो विवाद खड़ा हुआ उसके मूल में था अन्य पिछड़ा वर्ग (ओ.बी.सी.) को नौकरियों तथा शैक्षणिक संस्थाओं के एडमीशन सीट में आरक्षण की व्यवस्था। मण्डल कमीशन ने सर्वोच्च न्यायालय के उस निर्देश जिसमें न्यायालय ने किसी भी हालत में 50 फीसदी से ज्यादा के आरक्षण की मनाही कर

रखी है, अपनी संस्तुति में उस ओ.बी.सी. के लिए केवल 27 फीसदी आरक्षण की बात रखी जिसकी आबादी देश की कुल आबादी का 52 फीसदी है। मण्डल कमीशन लागू होने के बाद आरक्षण की अधिकतम सीमा 49.5 फीसदी रखी गयी जिसमें एस.सी., एस.टी. भी शामिल हैं जबकि एस.सी., एस.टी. तथा ओ.बी.सी. को मिलाकर इनकी आबादी पूरे देश की आबादी का 74.5 फीसदी है।

आगे चलकर वर्ष 2006 में वामपंथी पार्टियों द्वारा समर्थित संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यू.पी.ए.–1) की केन्द्रीय सरकार ने शैक्षणिक संस्थानों– जिसमें केन्द्रीय प्रोफेशनल संस्थान जिसमें इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेकनालोजी (I.I.T.) तथा इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेण्ट (I.I.M.S.) भी शामिल थे, में अन्य पिछड़े वर्ग (ओ.बी.सी.) के लिए एडमीशन सीटों के रिजर्वेशन का प्रस्ताव रखा। तब एक बार फिर से सामाजिक न्याय, समानता, मेरिट के मुद्दे सामने लाये गये। आरक्षण का विरोध करने वालों का कहना है कि देश में जो सर्वोच्च उपलब्धि हासिल की जा सकती है उसके साथ सरकार गंभीर रूख नहीं अपनाती बल्कि अपने राजनीतिक हित के लिए देश की क्षमता और गुणवत्ता को धता बताते हुए समझौते करती है और इस प्रकार लोकतंत्र नष्ट हो जायेगा।

लेकिन हकीकत यह है कि मेरिट (गुणवत्ता, श्रेष्ठता) उस वक्त सवाल के रूप में खड़ा किया गया जब उन लोगों के लिए भी शिक्षा तक पहुंच सुनिश्चित कराने का प्रयास शुरू किया गया जो लोग शताब्दियों से शिक्षा से वंचित रहे हैं। चूंकि हमारा राजनैतिक–सामाजिक ढांचा भेदभाव तथा असमानता के सिद्धांतों पर टिका है अतएव इन परिस्थितियों में आरक्षण की व्यवस्था वह औजार है जो उन लोगों को भी समाज में एक समुचित स्थान उपलब्ध करा सकता है जो सदियों से भेदभाव–असमानता–वंचितीकरण के शिकार रहे हैं।

इस मुद्दे ने भारत की राजनीति में सक्रिय सभी लोगों की कल्पनाओं पर एक रंग चढ़ाया। चाहे वे इसका समर्थन कर रहे थे या विरोध कर रहे थे। वी.पी.सिंह की अगुवाई में चल रही राष्ट्रीय मोर्चे की

तत्कालीन सरकार के समर्थन में अन्य पिछड़ी जातियां उठ खड़ी हुईं। इस ध्रुवीकरण से परेशान भारतीय जनता पार्टी (बी.जे.पी.) ने मन्दिर के मुद्दे को सामने किया। भारतीय जनता पार्टी के इस कारनामे से सबसे बड़ी चुनौती धर्म निरपेक्षता के लिए खड़ी हुई। दक्षिण–पंथी ताकतों के एकाएक खड़े होने तथा आडवानी की रथयात्रा और इसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगों ने लोकतन्त्र की जड़े हिला कर रख दीं।

भारत की बहुसंख्यक आबादी के बीच में मुसलमानों के प्रति एक दुराग्रह की भावना बरकरार है, जिसे कानूनी संरक्षण या कानूनी प्रयासों से उसी तरह दूर कर पाना संभव नहीं लगता जिस प्रकार छुआछूत के संदर्भ में कानून बनने के बाद भी वह आज भी भारतीय समाज में कायम है। इस तरह के मामलों में बनाये गये कानून पर्याप्त नहीं हैं, सक्षम नहीं है। उदाहरण के लिए संविधान के अनुच्छेद 347 और 350 (ए) के प्रावधान एच्छिक हैं, बाध्यकारी या अनिवार्य नहीं।

बिना धर्म निरपेक्षता तथा बिना अल्पसंख्यकों के संरक्षण एवं विकास के लोकतंत्र कुछ भी मायने नहीं रखता बल्कि इस तरह का लोकतंत्र महज धोखा या मजाक है। लोकतंत्र स्व–शासन की एक सहभागी प्रणाली है जो कि समानता, स्वाधीनता, न्याय एवं तर्क के बुनियादी सिद्धान्तों पर टिकी होती है। यहां तक कि यदि कोई निर्णय बहुमत के सिद्धांत पर किया जाय तो भी अल्पसंख्यकों के अधिकारों एवं उनके दृष्टिकोण का सम्मान किया जाना चाहिए। अल्पसंख्यकों को भी इस सिद्धान्त को अपनाना चाहिए तथा आन्तरिक तौर पर भी लोकतांत्रिक होना चाहिए।

निष्कर्ष :

दुनिया के सबसे बड़े लोकतन्त्र बनने के 64 साल बाद हमारे लिए यह महत्वपूर्ण है कि इसके क्रिया कलापों तथा काम करने के तौर तरीकों का विश्लेषण किया जाय तथा बारीकी से समझा जाय। यह एक अत्यंत ही विचार करने योग्य विषय है कि क्या हम अपने

संविधान में तय किये गये उद्देश्य को प्राप्त कर सके हैं? वर्ष 1960 में स्वीडन के अर्थशास्त्री गुन्नर मिर्डल ने भारत का वर्णन करते हुए टिप्पणी की थी कि– ''भारत एक विनम्र राज्य है जो अपने ही बनाये कायदे–कानूनों को लागू करने की इच्छा नहीं रखता।'' क्या तब से अभी तक इस सूरते हाल में कोई तब्दीली आयी है?

आज हमारी हालत यह है कि हम ह्यूमन डेवलपमेण्ट इन्डेक्स के मामले में 124वें स्थान पर हैं; हमें याद रखना चाहिए कि पारदर्शिता (खुलापन) भ्रष्टाचार को रोकने का एक उपाय है और हम पारदर्शिता के मामले में बहुत नीचे स्तर अर्थात् 91 में 72वें स्थान पर हैं; क्या हम अपनी आबादी के लगभग 5वें भाग को घर में शौचालयों की व्यवस्था उपलब्ध कराने में सफल हो पाये हैं ? इस मामले में बांग्लादेश हमसे बेहतर स्थिति में है जिसने यह सुविधा अपनी 44 फीसदी आबादी को मुहैया करा दी है; और प्राइमरी शिक्षा भी मुश्किल से 50 फीसदी आबादी को ही उपलब्ध करायी जा सकी है। हमारी हालत एक डींग हांकने वाले लोकतंत्र की तरह है। किसी को भी हमारी हालत देखकर यह कहने में आश्चर्य नहीं होगा कि हम किसी लोकतांत्रिक देश की तुलना में किसी सामंतवादी राज्य के ज्यादा करीब हैं। यदि दो महिलायें देश की सबसे पुरानी पार्टी के अध्यक्ष तथा एक बड़े राज्य के मुख्यमंत्री के पद पर महज इसलिए आसीन हैं कि वे किसी खास व्यक्ति की विधवा या पत्नी हैं तो इस तरह की प्रवृत्ति को क्या एक परिपक्व लोकतंत्र के लक्षण के रूप में देखा जाय या सामंतवादी मानसिकता के परिचायक के रूप में?

जहां तक शासन की बात है इसके सबसे कमजोर संस्थान के रूप में न्यायपालिका सामने आती है। हकीकत यह है कि हमने लगातार यह देखा है कि न्यायालयों को ऐसे मामलों में दखल देने को बाध्य किया जाता रहा है, जो मामले पूरी तरह से प्रशासन के स्तर के हैं। और यह तब हो रहा है जबकि लाखों मुकदमे/वाद न्यायालयों में समयाभाव के नाते लंबित है। भ्रष्टाचार में जजों की संलिप्तता बढ़ती जा रही है।

जहां तक भ्रष्टाचार की दुनिया का सवाल है इस दुनिया में राजनीतिज्ञ सबसे घटिया नस्ल के बीज के तौर पर सामने हैं। सम्पत्ति एवं नैतिक कदाचार के मामलों में यह बुरी तरह से शामिल हैं। यह राजनीतिज्ञ भ्रष्टाचार के स्रोत तथा अंतिम मंजिल हैं। यह बात दोनों तरह के राजनीतिज्ञों पर लागू होती है चाहे वे निर्वाचित जन प्रतिनिधि हों या निर्वाचित होने की प्रतीक्षा सूची में पड़े हों। घूसखोरी, भाई भतीजावाद, पक्षपात, साम्प्रदायिक हिंसा, जाति एवं क्षेत्रीयता के नाम पर बंटवारा आदि राजनीतिज्ञ बनने के साधन बन कर उभरे हैं। इसी नाते विशिष्टता तथा पहचान की सकारात्मक राजनीति को नष्ट कर दिया गया है और इसका गलत इस्तेमाल किया जाने लगा है।

3

भारत में धर्म–निरपेक्षता

भारतीय समाज भिन्न–भिन्न धार्मिक, भाषायी तथा नस्लीय समूहों का मिला जुला रूप है। वर्ष 2001 में की गयी जन गणना के उपलब्ध आंकड़ों के मुताबिक देश की कुल आबादी 10280 लाख में से 8270 लाख से कुछ ज्यादा (80.5 प्रतिशत) लोगो ने अपने आपको हिन्दु धर्मावलंबी दिखाया है, 1380 लाख (13.4 प्रतिशत) लोगों ने अपने आपको मुसलमान अर्थात् इस्लाम धर्म का अनुयायी बताया है, 240 लाख (2.3 प्रतिशत) ईसाई हैं, 190 लाख (1.9 प्रतिशत) सिख हैं, 80 लाख (0.80 प्रतिशत) बौद्ध और 40 लाख (0.40 प्रतिशत) जैन धर्मावलम्बी हैं। इसके अतिरिक्त 60 लाख से कुछ ज्यादा ऐसे लोग हैं जो ऊपर दिये गये प्रमुख 6 धर्मों के अलावा दूसरे धर्मों–पंथों को मानते हैं इनमें आदिवासी धर्म को मानने वाले लोग भी शामिल हैं।

भारत में धर्म निरपेक्षता की समझ को इस रूप में ग्रहण किया गया था जिसके मुताबिक धर्म निरपेक्षता वह प्रणाली है जो धार्मिक तथा सांस्कृतिक बहुलता को स्वीकार करती है और विश्वास (धर्म) तथा सांस्कृतिक विभिन्नता को समुचित स्थान एवं सम्मान देती है। धार्मिक बहुलता, बिना किसी भेदभाव तथा उत्पीड़न के, केवल धर्म निरपेक्ष राज्य में बरकरार रह सकती है। लेकिन पश्चिमी दुनिया में धर्म निरपेक्षता का जन्म चर्च एवं राज्य के बीच संघर्ष के द्वारा हुआ है।

भारतीय राष्ट्रवाद की मुख्य धारा ने भारत की आजादी के संघर्ष की अगुआई करके 1947 में आजादी हासिल की। भारतीय

राष्ट्रवाद की यह मुख्य धारा अपने इतिहास के अधिकांश दौर में निश्चित तौर पर धर्म निरपेक्षता की अवधारणा के प्रति समर्पित रही है। आजादी की जंग में धर्म निरपेक्षता एक प्रमुख मूल्य के रूप में उभरकर आया और राष्ट्रवादी नेताओं महात्मा गांधी, पण्डित नेहरू और मौलाना अब्दुल कलाम आजाद आदि धर्म निरपेक्षता के आदर्शों के प्रति पूर्णतया कटिबद्ध एवं समर्पित थे। आजादी के ही ऐन मौके पर देश के बँटवारे तथा साम्प्रदायिक दंगों ने देश को झकझोर कर रख दिया। इस तरह खड़ी हुई नयी चुनौतियों तथा हालात ने नव स्वतंत्र राष्ट्र के लिए यह आवश्यक कर दिया कि धर्म निरपेक्षता को नव स्वतंत्र राष्ट्र की राज्य नीति बनाया जाय। स्वाधीन भारत में पंडित जवाहर लाल नेहरू के प्रधानमंत्रित्व में एक 'धर्म–निरपेक्ष भारतीय राष्ट्र–राज्य' की समझ को आधिकारिक तौर पर अंगीकृत (स्वीकार) किया गया और इस प्रकार नव स्वाधीन भारत ने इसे आधुनिक राजनीति की तरफ बढ़ने और राष्ट्रीय अखण्डता की रक्षा के महत्वपूर्ण कदम के रूप में रखा। स्वाधीन भारत के नव निर्मित संविधान में धर्म निरपेक्षता को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। भारतीय संविधान की उद्देशिका में यह घोषणा की गयी कि भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है। (भारतीय संविधान की मूल उद्देशिका में धर्म निरपेक्ष शब्द का इस्तेमाल नहीं किया गया था। आगे चलकर वर्ष 1976 में 42वें संविधान संशोधन के जरिये इसे उद्देशिका में शामिल किया गया)।

भारत में आजादी के बाद के दौर में धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया बहुत धीमी गति से चली। साम्प्रदायिकता जो कभी मरी नहीं थी, ने 1970–80 के दौर में धर्म निरपेक्षता पर बड़े पैमाने पर हमले करने शुरू कर दिये। और आगे आने वाली दशाब्दी (1980–90) में भारतीय धर्म निरपेक्षता को धार्मिक–कट्टरता एवं हिंसक हमलों से निपटना पड़ा।

इसके पहले कि भारत में धर्म निरपेक्षता के बारे में और सोचा समझा जाय यह जानना बहुत जरूरी है कि धर्म निरपेक्षता की

जो समझ है उसका मतलब क्या है? और यह भी जाना समझा जाय कि पश्चिमी दुनिया में जो धर्म निरपेक्षता की समझ है उससे भारत के संदर्भ में जो धर्म निरपेक्षता की अवधारणा है किस तरह भिन्न है? साथ ही धर्म निरपेक्षता के मुख्य तत्वों, विशेषताओं को भी जाना समझा जाय।

धर्म निरपेक्षता की अवधारणा तथा इसका विकास

धर्म निरपेक्षता की समझ का मुख्य स्रोत पश्चिम की उदारवादी–लोकतांत्रिक परम्पराओं में खोजा जा सकता है। एंग्लो–अमेरिकन संदर्भों में सामान्यतया धर्म निरपेक्षता का मतलब 'चर्च और राज्य को अलग–अलग देखना' है अर्थात चर्च और राज्य अलग अलग अस्तित्व वाली ईकाइयां हैं इन दोनों का आपसी घालमेल नहीं होना चाहिए। धर्म निरपेक्षता का जन्म स्थान यूरोप है। इस शब्द का पहली बार इस्तेमाल 30 वर्षीय युद्ध की समाप्ति के समय सन् 1648 ई. में किया गया। उस वक्त धर्म निरपेक्षता का मतलब था कि चर्च की सारी सम्पत्तियों का स्थानांतरण राजाओं (राज्य) को कर दिया जाय। इसी प्रकार चर्च की सम्पत्तियों का स्थानांतरण राज्य को किया जाय, यह फ्रांसीसी क्रांति की उपलब्धियों में दर्ज है। आगे चलकर इंग्लैण्ड में जार्ज हालिओक ने धर्म निरपेक्षता शब्द का इस्तेमाल 'रेशनलिस्ट मूवमेण्ट' (1851 ई.) में, विरोध के लिए किया–इस मूवमेण्ट की वे स्वंय अगुआई कर रहे थे। यूरोप में जन जागरण तथा औद्योगीकरण के कारण पूरी दुनिया में धार्मिक मान्यताओं, परम्पराओं के स्थान पर तार्किक तथा वैज्ञानिक विचारों का महत्वपूर्ण स्थान बनता चला गया। इसकी मुख्य विशेषता यह थी कि इस मूवमेण्ट ने इस दुनिया की कार्य पद्धति की व्याख्या करने की तत्ववादी तथा धार्मिक पद्धतियों को खारिज कर दिया। इसने धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों को अलग अलग किया तथा धर्म और राजनीति को अलग–अलग रखा तथा इनकी हदें तय कीं, इनके घालमेल पर रोक लगायी। राज्य को एक स्वतंत्र स्वायत्त इकाई माना गया तथा राजनीति को एक अलग अस्तित्व

प्रदान किया गया। साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि धर्म निरपेक्षता की इस प्रक्रिया ने राज्य को पुरोहितवाद के चंगुल से मुक्त कराके उसे एक सम्प्रभुता वाली स्थिति प्रदान करायी। पहले के दौर में धर्म राज सत्ता को एक दैवीय मान्यता देने का कार्य करता था और राजा की सत्ता को राजतिलक, धार्मिक कर्मकाण्डों तथा धार्मिक समारोहो के माध्यम से धार्मिक मान्यता देता था। लेकिन आज एक लोकतांत्रिक राज्य अपनी वैधानिकता तथा मान्यता को एक धर्म निरपेक्ष स्रोतों (मतदाताओं या नागरिकों की सहमति) से ग्रहण करता है और किसी प्रकार की पुरोहितवादी शक्तियों, कर्मकाण्डों, मान्यताओं, परम्पराओं का मोहताज नहीं होता।

धर्म निरपेक्षता के सम्बन्ध में एक–दूसरा नजरिया यह है कि धर्म निरपेक्षता एक ऐसी प्रक्रिया है जो समाज के तमाम तबकों और संस्कृतियों को धार्मिक प्रतीकों या धार्मिक संस्थानों से मुक्त करके उन्हें अपना स्वतंत्र एवं सम्प्रभु अस्तित्व बनाने का अवसर उपलब्ध कराती है। इस प्रकार (धार्मिक प्रतीकों–संस्थानों से) मुक्ति या अलगाव की दीवार द्वारा भिन्न–भिन्न धर्मों को मानने वाले और भिन्न–भिन्न संस्कृतियों के लोग शांतिपूर्ण तरीके से एक साथ समता के बुनियादी सिद्धांत को आधार बनाकर, धर्म निरपेक्षता पर आधारित नागरिकता वाले राज्य का निर्माण करके शांतिपूर्ण ढंग से रहते हैं (शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व)। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म निरपेक्षता प्रगति का एक बुनियादी सिद्धांत है। आज के समय धर्म निरपेक्षता का मतलब है राज्य का धर्म से कुछ लेना देना न हो। राज्य को न तो कोई राज धर्म घोषित करना चाहिए और न हि धर्म के नाम पर कोई भेदभाव करना चाहिए और न हि धार्मिक मामलों में दखल देना चाहिए। आज के आधुनिक युग में संयुक्त राज्य अमेरिका एक धर्म निरपेक्ष राज्य का सटीक उदाहरण हो सकता है।

एक धर्म निरपेक्ष राज्य में सभी धर्म एक समान होते हैं वे राज्य के ही अधीन तथा राज्य से एकदम अलग होते हैं। सभी धार्मिक

समुदाय या समूह राज्य के सामान्य नियमों के अधीन होते हैं और सभी प्रकार के नागरिक कर्त्तव्यों (करों का भुगतान, कानून–व्यवस्था कायम रखना) के प्रति उनकी पूरी जिम्मेदारी होती है। धार्मिक समुदाय/ समूह अपने धर्म/पंथ बना सकते हैं, नियम–कायदे बना सकते हैं, अपने शैक्षणिक संस्थान भी संचालित कर सकते हैं, अपनी गतिविधियों के लिए वित्तीय प्रबंध कर सकते हैं – धार्मिक समुदाय की इस तरह की गतिविधि में राज्य किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता । इस प्रकार ''धर्म एवं राज्य अलग–अलग हैं'' के सिद्धांत का पालन करते हुए धर्म एवं राज्य दोनों को ही अपने आप को विससित करने का पूरा अवसर प्राप्त होता है और दोनों एक दूसरे के मामले में हस्तक्षेप नहीं करते हैं। साथ ही साथ धर्म और राज्य को अलग अलग रखने और रहने की संवैधानिक व्यवस्था भी की गयी है।

एक धर्म निरपेक्ष राज्य किसी व्यक्ति को किसी धार्मिक समुदाय/समूह विशेष के सदस्य के रूप में न देखकर उसे एक नागरिक के रूप में ही देखता/मानता है। नागरिकता की व्याख्या करते समय धर्म अप्रासंगिक हो जाता है तथा उसकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती है। किसी नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्य उसकी अपनी धार्मिक मान्यता या किसी धर्म विशेष से जुड़ाव से प्रभावित नहीं होते ।

इंग्लैण्ड (यू.के.) में राज्य और चर्च दोनों की प्रणाली एक साथ मौजूद है, जहां पर एक तरफ व्यापक पैमाने पर धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त है वहीं दूसरी तरफ नागरिकता की लोकतांत्रिक व्यवस्था भी मौजूद है।

भारत में धर्म निरपेक्षता

(धर्म निरपेक्षता का मतलब, विशेषतायें तथा संवैधानिक प्रावधान)

भारत में सेकुलरिज्म (जिसे अकसर धर्म निरपेक्ष के रूप में अनुवादित किया जाता है) शब्द के अर्थ और प्रयोग में महत्वपूर्ण

भिन्नतायें हैं। भारत एक ऐसा देश हैं जहां पर इसके निवासियों के जीवन के केन्द्र में या जीवन के एक महत्वपूर्ण पहलू के तौर पर धर्म मौजूद है। भारत के प्राचीन हिन्दु धर्म ग्रन्थों–उपनिषदों में व्यक्त किये गये दर्शन–''सर्वधर्म समभाव'' पर धर्म निरपेक्षता की अवधारणा आधारित है। भारतीय प्राचीन चिंतन–दर्शन धर्म निरपेक्षता को ''सर्वधर्म समभाव'' के रूप में देखता है जिसका स्पष्ट अर्थ है सभी धर्मों के लिए समान सम्मान, आदर और अवसर।

यह भारतीय चिंतन धर्म–निरपेक्षता को धर्म और राज्य के अलग–अलग अस्तित्व के रूप में नहीं देखता, जहां पर धर्म और राज्य एक दूसरे के एकदम विपरीत विशेषताओं वाले हों और दोनों की सीमायें तय कर दी गयी हों। धर्म निरपेक्षता का यह भिन्न भारतीय स्वरूप विद्वानों द्वारा 'नेहरूयुगीन धर्म निरपेक्षता की अवधारणा' के रूप में पुकारा गया है जो बुनियादी तौर पर 'सहअस्तित्व (सहनशीलता) और अहस्तक्षेप' के बुनियादी सिद्धांतों पर टिका है। राज्य को अहस्तक्षेप (धर्म–निरपेक्ष) वाली भूमिका निभानी चाहिए क्योंकि देश में तमाम धर्म अस्तित्व में हैं साथ ही राज्य को सथी धर्मों को सहन करना (सह अस्तित्व को प्रोत्साहन) चाहिए। किसी व्यक्ति की एक देशवासी (नागरिक) के रूप में तथा एक धर्म विशेष के सदस्य के रूप में पहचान बिल्कुल अलग अलग होनी चाहिए और इन अलग अलग पहचानों को अलग अलग महत्व दिया जाना चाहिए अर्थात नागरिकता के आधारों को धार्मिक पहचान से जोड़कर नहीं देखा जाना चाहिए।

पश्चिमी दुनिया में धर्म निरपेक्षता का तात्पर्य 'राज्य का धर्म से अलगाव' से है। इस प्रकार पश्चिमी दुनिया में धर्म निरपेक्ष, का विपरीत या उल्टा अर्थ रखने वाले के रूप में धर्म को रखा गया है जबकि भारत में साम्प्रदायिकता को धर्म निरपेक्षता के विपरीत अर्थ रखने वाला माना जाता है।

राज्य और धर्म के बीच में कायम रिश्तों या वे रिश्ते जो राज्य और धर्म के बीच होने चाहिए को व्याख्यायित करने के लिए धर्म निरपेक्षता शब्द का प्रयोग किया जाता है। एक धर्म निरपेक्ष राज्य के रूप में भारत का मतलब है एक गैर साम्प्रदायिक तथा गैर धर्मशासित राज्य। इस समझ का संभावित व्यावहारिक रूप हमें भारत में देखने को मिलता हैं। यहां धर्म और राज्य मनुष्य की गतिविधियों के दो एकदम अलग अलग क्षेत्रो में, अपने अलग–अलग उद्देश्यों तथा अलग अलग विधियों/तरीकों से कार्य करते हैं। धर्म के औचित्यपूर्ण उद्देश्यों में राजनीतिक सत्ता (की प्राप्ति या नियंत्रण है) शामिल नहीं है।

भारत के संदर्भों में धर्मनिरपेक्षता का मतलब गैर–साम्प्रदायिक या गैर–संकीर्णता तो है परंतु इसका मतलब गैर–धार्मिक या अ–धार्मिक नहीं है। भारत में धर्म निरपेक्ष राज्य की जड़ में ''अलगाव की दीवार'' जो राज्य और धर्म को अलग–अलग करती है, नहीं है; बल्कि यह मान्य सिद्धांत हैं कि 'किसी को प्रश्रय' न दिया जाए जिसका मतलब है कि (चूंकि भारत में तमाम धर्मों को मानने वाले नागरिक रहते हैं) किसी धर्म विशेष को किसी प्रकार का विशेषाधिकार न दिया जाए अर्थात् किसी भी धर्म के साथ राज्य पक्षपात न करे।

भारत में नागरिकों को व्यक्तिगत स्तर पर धर्मनिरपेक्षता के अधिकार भारतीय संविधान में विभिन्न प्रावधानों/अनुच्छेदों के जरिये प्राप्त हैं, जिनमें मुख्य प्रावधान (हक/अधिकार) हैं–

1. सभी नागरिकों को ''आस्था एवं धर्म'' के बारे में एक समान आजादी होगी दूसरे शब्दों में –धर्म के संदर्भ में निजी आजादी।
2. राज्य के द्वारा किसी भी नागरिक के साथ धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा। (भारतीय संविधान के) कुछ अनुच्छेदों में नागरिकों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की व्याख्या करते

समय किसी भी प्रकार से धार्मिक सम्बद्धताओं को आधार बनाये जाने की साफ तौर पर मनाही की गयी है। इस प्रकार के भेदभाव से संरक्षण की गारण्टी संविधान के अनुच्छेद–14 (कानून के समक्ष समानता का अधिकार और कानूनी संरक्षण पाने का एक समान अधिकार) और संविधान के अनुच्छेद 15 (1) (किसी भी नागरिक के साथ धर्म, नस्ल, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी एक के भी आधार पर राज्य किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा)–के द्वारा सभी नागरिकों को प्राप्त है।

3. साम्प्रदायिक आधार पर मतदाता अधिकार नहीं होंगे।

4. राज्य को इस बात का अधिकार है कि वह नागरिकों के कल्याण एवं सुधार के लिए ऐसे हिन्दु धर्म के संस्थानों जिनका स्वरूप सार्वजनिक है सभी के लिए खुला बना दे।

5. आर्थिक, वित्तीय या कोई अन्य धर्म निरपेक्ष गतिविधि जिसका जुड़ाव किसी धार्मिक क्रिया कलाप से भी हो सकता है–को राज्य कानून बनाकर इसका संचालन कर सकता है या कानून बनाकर उसके संचालन को विधिवत चलाने को कह सकता है।

6. भारतीय संविधान के अनुच्छेद–17 के द्वारा छुआछूत को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया है।

7. सार्वजनिक जीवन, नैतिकता और सामाजिक सरोकारों का ध्यान रखते हुए किसी भी धार्मिक संस्था या धार्मिक समुदाय को इस बात का अधिकार है कि वह धार्मिक तथा सेवा (धर्मादा) के उद्देश्य से संस्थानों/संस्थाओं की स्थापना तथा संचालन करे।

8. सभी तरह के धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय को अपनी पंसद के अनुसार शिक्षण संस्थाओं की स्थापना तथा संचालन का अधिकार होगा। इस तरह की संस्थाओं को ग्राण्ट देने में राज्य किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं

करेगा। राज्य ग्राण्ट देते समय इस तरह की संस्थाओं के साथ भी वही व्यवहार करेगा जैसा कि अन्य संस्थाओं के साथ किया जा रहा है।

9. रोजगार या राज्य के अधीन किसी पद पर नियुक्ति, राज्य के द्वारा सहायता प्राप्त या राज्य द्वारा संचालित किसी शैक्षणिक संस्थान में दाखिला और विधायिकाओं में मत देने या प्रतिनिधित्व करने में किसी भी नागरिक के साथ उसकी धार्मिक सम्बद्धता के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा। (संविधान का अनुच्छेद 15 (1), 16 (1), 16 (2))

10. किसी भी प्रकार का सार्वजनिक राजस्व (सरकारी धन) किसी भी धर्म की प्रोन्नति के लिए खर्च नहीं किया जायेगा। यद्यपि केरल तथा तमिलनाडु राज्यों की तरफ से एक निश्चित निर्धारित राशि का भुगतान 'देवासम फण्ड' के तहत किया जायेगा जिसके द्वारा हिन्दु मन्दिरों तथा धर्मस्थानों का रख रखाव किया जायेगा। यह वे मन्दिर हैं जो त्रावणकोर–कोचीन रियासतों द्वारा केरल तथा तमिलनाडु राज्यों को स्थानान्तरित कर दिये गये हैं।

11. राज्य के फण्ड से पूर्णतया व्यवस्थित तथा संचालित किसी शिक्षण संस्थान में किसी प्रकार का धार्मिक निर्देश जारी नहीं किया जायेगा। इस नियम का अपवाद राज्य द्वारा संचालित वे शिक्षण संस्थान ही हो सकते हैं जिनके संस्थापक दान–दाता या ट्रस्ट इस तरह का निर्देश चाहते हैं। इसके अलावा राज्य द्वारा संचालित या मान्यता प्राप्त किसी शिक्षण संस्थान में अध्ययनरत किसी छात्र/छात्रा से यह अपेक्षा की जा सकती है कि वह संस्थान द्वारा दिये जा रहे किसी धार्मिक निर्देश या पूजा पाठ (उपासना) में हिस्सा ले या माने लेकिन यह तभी हो सकता है जब उसके अभिभावक ने इस तरह के कार्य हेतु अपनी सहमति दे दी हो (भारतीय संविधान के अनुच्छेद 28 का (1), (2)

एवं (3) भाग)।

12. भारतीय संविधान में वर्ष 1976 मे किये गये संविधान संशोधन के द्वारा सभी भारतीय नागरिकों का यह मौलिक कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है कि वे ''(भारतीय) साझी संस्कृति के मूलभूत गुणों का संरक्षण करें''।

13. भारतीय दण्ड संहिता (इण्डियन पेनल कोड–आई.पी.सी.) की धाराओं (295 से 298) द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि किसी धार्मिक स्थान (उपासना पूजा पाठ की जगह) को क्षति पहुंचाना या दूषित करना एक अपराध है, चाहे इसके लिए अपराध करने वाले का अपना धर्म निर्देश की क्यों न देता हो। भारतीय दण्ड संहिता (इण्डियन पेनल कोड–आई.पी.सी.) की धारा 298 में यह प्रावधान है कि किसी व्यक्ति की धार्मिक भावनाओं को इरादतन (जानबूझकर) शब्दों द्वारा, ध्वनियों द्वारा या हावभाव द्वारा आहत करना एक दण्डनीय अपराध होगा और इस अपराध के लिए एक वर्ष तक के कारावास की सजा हो सकती है। इसी तरह भारतीय दण्ड संहिता (इण्डियन पेनल कोड–आई.पी.सी.) की धारा 295–ए के तहत यह व्यवस्था की गयी है कि (यदि कोई व्यक्ति) जान बूझकर (इरादतन) किसी 'धर्म या धार्मिक विश्वास' का अपमान करना एक दण्डनीय अपराध है और इस अपराध के लिए दो वर्ष तक के कारावास की सजा की जा सकती है।

14. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 26 (बी) में यह प्रावधान किया गया है कि किसी भी धार्मिक पंथ या संगठन को अपने धर्म के रीति–रिवाजों, कर्मकाण्डों, धार्मिक उत्सवों के बारे में अपनी धार्मिक धारणा, मत या धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार तौर तरीकों का फैसला करने की पूरी आजादी (स्वायत्तता) होगी। इस तरह के मामले में किसी प्रकार के फैसलों में दखल देने का किसी अन्य को न तो अख्तियार होगा और न हि ऐसा करने का

उसके पास कोई कानूनी हक होगा।

15. भारतीय संविधान के मूलभूत सिंद्धातों में से एक 'भेदभाव के विरूद्ध संरक्षण' के आधार पर राज्य को धर्म, जाति आदि के आधार पर भेदभाव करने की मनाही है। इस तरह का भेदभाव वह सकारात्मक उद्देश्यों के लिए कर सकता है। सकारात्मक भेदभाव के अधिकार का इस्तेमाल ऐसे समय ही करने की इजाजत है जब वह भेदभाव के कारण पीछे छूट गये समाज के एक निश्चित हिस्से के उत्थान/प्रगति के लिए विशेष प्रावधान करने जा रहा है। (भारतीय संविधान का अनुच्छेद–15 (4))

भारतीय धर्म निरपेक्षता की एक प्रमुख विशेषता यह है कि भारतीय संविधान राज्य को यह व्यापक अधिकार देता है कि धार्मिक मामलों या धर्म की सामूहिक आजादी के मामलों में राज्य हस्तक्षेप कर सके। भारतीय धर्म निरपेक्षता की अवधारणा की इस विशेषता को भारतीय संविधान के ऊपर दिये गये अनुच्छेदों तथा इन अनुच्छेदों में किये गये प्रावधानों तथा देश में लागू अन्य कानूनों–विधानों से बखूबी समझा जा सकता है। जहाँ एक तरफ धर्म की सामूहिक आजादी के मामले में संविधान राज्य को व्यापक अधिकार देता है वहीं पर किसी धर्म विशेष की निजी आजादी के मामले में राज्य बहुत कम ही हस्तक्षेप करेगा।

धार्मिक मामलों या धर्म की सामूहिक आजादी के मामलों में राज्य के हस्तक्षेप को दो आधारों पर जायज ठहराया गया है :–

1. धार्मिक आजादी का अधिकार सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और सामाजिक सराकारों पर आधारित होता है।
2. भारतीय संविधान का अनुच्छेद 25 (2) राज्य को यह अधिकार देता है कि राज्य किसी धर्म निरपेक्ष गतिविधि जिसका धर्म से सम्बन्ध हो, को ठीक ढंग से संचालित

करने के लिए कानून बना सकता है। इस तरह के कानून का उद्देश्य यहां पर सामाजिक सुधार से है जैसे छुआछूत का खात्मा, हरिजनों को हिन्दू मंदिरों में प्रवेश का अधिकार आदि।

धर्म निरपेक्षता की अवधारणा का तात्पर्य यह है कि धर्म को राज्य से अलग रखा जाए जिससे कि पर्याप्त धार्मिक आजादी एंव नागरिकता के सिद्धांतों में समानता सुनिश्चित की जा सके। लेकिन कभी कभी राज्य का हस्तक्षेप (धार्मिक मामलों में भी) महत्वपूर्ण हो जाता है जब हस्तक्षेप किसी ऐसे मसले पर हो रहा हो जिसका सम्बन्ध केवल सामाजिक या धार्मिक पक्षों तक ही सीमित न हो बल्कि इसमें और भी महत्वपूर्ण पक्ष शामिल हों। साथ ही साथ राज्य का इस तरह का हस्तक्षेप तब भी आवश्यक एवं महत्वपूर्ण हो जाता है जबकि वह किसी नागरिक को बिना किसी धर्म या जाति का भेद किये हुए उसे न्याय एवं समानता की उपलब्धता सुनिश्चित करता है। कुछ ऐसे भी महत्वपूर्ण मसले हैं जहां पर धार्मिक मामलों में भी राज्य को दखल देने का संविधान द्वारा अधिकार दिया गया है उदाहरण के लिए मन्दिरों, मठों के वित्तीय प्रबंधन और धार्मिक व्यक्तिगत कानूनों में संशोधन या सुधार। इस प्रकार राज्य के हस्तक्षेप (सामाजिक, धार्मिक मामलों में) का मूल कारण यह है कि कभी कभी जरूरत महसूस होने पर इस बात की दरकार होती है कि सामाजिक और धार्मिक मामलों में सुधार किया जाय, इस प्रकार का सुधार केवल राज्य के हस्तक्षेप से ही संभव है और इसी तरीके से ही सभी को संतुष्ट किया जा सकता है (यह मौजूदा भारत की विशेषता को प्रदर्शित करता है)।

इस प्रकार ''अलग–अलग करने की दीवार'' (वाल ऑफ सेपरेशन–धर्म और राज्य को अलग अलग करना) जो आज पश्चिमी दुनिया में प्रचलन में है, भारतीय सामाजिक–धार्मिक परिस्थितियों में लागू नहीं होता।

धार्मिक आधारों पर बनाये गये 'परसनल लॉ' को भारत मान्यता देता है। हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई और पारसी आदि धार्मिक समुदाय, उनके अपने अपने धार्मिक परसनल लॉ द्वारा नियंत्रित/शासित होते हैं। धार्मिक आधारों पर अलग अलग 'परसनल लॉ' की मौजूदगी को धर्म निरपेक्षता के मूलभूत सिद्धांतों के एकदम विपरीत स्थिति के रूप में देखा जा सकता है। समय समय पर इन अलग–अलग 'परसनल लॉ' को हटाकर एक 'समान नागरिक संहिता' (कामन कोड बिल) बनाये जाने की माँग उठती रही है। समान नागरिक संहिता की इस मांग के पीछे उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा धार्मिक व्यवस्था को निजी विश्वास, पूजा पद्धति और धर्म के पालन तक ही सीमित किया जा सके।

भारतीय संविधान में राज्य के किसी आधिकारिक धर्म की व्यवस्था नहीं है अर्थात राज्य का कोई धर्म नहीं होगा। संविधान में बहुसंख्यकों के किसी धर्म को भी आधिकारिक तौर पर मान्यता नहीं दी गयी है। ऐसे देशों में जहां पर राज्य का कोई घोषित आधिकारिक धर्म है वहां पर व्यक्तियों को राज्य के घोषित धर्म के सहयोग के लिए (टैक्स आदि के माध्यम से) बाध्य किया जा सकता है या राज्य के सर्वोच्च पद पर पदस्थापित होने के अयोग्य घोषित किया जा सकता है (राज्य के घोषित आधिकारिक धर्म के इतर किसी अन्य धर्म के अनुयायी होने के नाते)। परंतु भारत में ऐसी व्यवस्था नहीं है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद –27 में यह कहा गया है कि किसी धर्म विशेष के सहयोग के लिए किसी भी व्यक्ति को टैक्स आदि देने हेतु बाध्य नहीं किया जा सकता है।

भारत के पड़ोसी देशों जैसे म्यांमार में वर्ष 1961 में संविधान में बौद्ध धर्म को राज्य धर्म घोषित करते हुए कहा गया कि – ''बौद्ध धर्म जो कि देश (म्यांमार) की बहुत बड़ी आबादी के द्वारा माना जाता है, (अतएव) वह (बौद्ध धर्म) राज्य का (म्यांमार) आधिकारिक धर्म (अनिवार्यतः) होगा''। (म्यांमार के संविधान का

अनुच्छेद 21 (1))

इस्लामी गणतंत्र पाकिस्तान का संविधान अपने देश पाकिस्तान को एक ऐसे देश के रूप में घोषित करता है जहां पर शासन व्यवस्था धार्मिक (इस्लामिक) कायदे कानूनों से संचालित है। पाकिस्तान के संविधान की उद्देशिका की शुरूआत इन शब्दों से होती है–''सारी दुनिया में एक की ही सम्प्रभुता है और वह सर्वशक्तिमान अल्लाह ही है, और उसके द्वारा अधिकृत की गयी बातों के अनुसार चलना तथा उसके द्वारा बतायी गयी हद में रहना पाकिस्तानी आवाम का फर्ज है और एक पवित्र विश्वास है'' (पाकिस्तान के संविधान की उद्देशिका से)

भारतीय संविधान में ईश्वर का कोई संदर्भ नहीं लिया गया है, इसका केवल एक अपवाद है, जहां पर पद एवं गोपनीयता की शपथ लेते समय 'ईश्वर' शब्द के नाम पर भी शपथ लेने का प्रावधान है (भारतीय संविधान की तीसरी अनुसूची)। केन्द्रीय मंत्रिमण्डल/मंत्रि परिषद के मंत्रियो, संसद के सदस्यों, न्यायाधीशों के लिये यह व्यवस्था है कि या तो वे 'ईश्वर की सौगंध लेकर' या ''पूर्ण निष्ठा' के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करने की सौंगंध लेकर अपने पद/ जिम्मेदारियों का उत्तरदायित्व शुरू करते हैं। केन्द्रीय सरकार में धर्म के नाम पर कोई विभाग नहीं है जबकि ब्रिटिश कालीन औपनिवेशिक शासन के दौर में अंग्रेजों द्वारा इस तरह के विभाग केन्द्रीय स्तर पर बनाये गये थे।

क्या कोई एक ही समय में धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक दोनों रह सकता है?

यह बड़ा ही दिलचस्प सवाल है कि क्या कोई व्यक्ति एक ही समय में धर्म निरपेक्ष (सेकुलर) और धार्मिक (मजहबी) दोनों हो सकता है? भारत में धर्म निरपेक्षता की बुनियाद सभी धर्मों के लिए समान आदर की भावना है। अतएव भारतीय धर्मनिरपेक्षता किसी नागरिक को एक ही समय में धर्म के प्रति निष्ठा रखने

वाला तथा आचरण करने वाला अर्थात धार्मिक (मजहबी) बने रहने और दूसरे धर्मो के प्रति सहिष्णुता रखने तथा उनके प्रति आदरपूर्ण आचरण करने वाला और दूसरे धर्मो को अपने ही धर्म के समान सम्मान देकर धर्म निरपेक्ष बने रहने का भी अवसर एक ही साथ उपलब्ध कराता है। पश्चिमी दुनिया की धर्म निरपेक्षता की अवधारणा को यदि आधार बनाकर देखा जाए तो महात्मा गांधी एक 'धर्म निरपेक्षतावादी' नहीं थे क्योंकि उन्होंने धर्म एंव राजनीति को अलग अलग करके नहीं देखा था। वे अपने आपको एक 'सनातनी' (परम्परागत रूप से चले आ रहे प्राचीन धर्म के सिद्धांतों को मानने वाला) कहते थे लेकिन उन्होंने आपसी (एक–दूसरे धर्म के प्रति) सम्मान और सहिष्णुता पर मुख्यतया जोर दिया। गांधी जी ने धर्मों के बीच में अंतर–धार्मिक (पारस्परिक) समझदारी को रेखांकित किया और आध्यात्मिक रूप से इस बात को औचित्यपूर्ण बताया कि समकालीन (मौजूदा समय में) जीवन के कुछ निश्चित क्षेत्र विशेष में धार्मिक संस्थानों और धार्मिक प्रतीकों की भूमिका की एक सीमा है।

व्यवहार में धर्म निरपेक्षता

भारत में पिछले 40–45 सालों में धर्म निरपेक्षता की अवधारणा को गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। इस दौर में धर्म निरपेक्षता के अस्तित्व और उपयोगिता पर भी सवाल खड़े किये गये। इस दौर में हर तरह की साम्प्रदायिक गड़बड़ियों की घटनाओं में तेजी के साथ बढ़ोत्तरी हुई साथ ही साथ धार्मिक उन्माद भी बेतहाशा बढ़ा। सन् 1970 से 80 ई. के दौर में सिख एवं मुस्लिम कट्टरपंथ सामने आया परिणामतः ग्रामीण तथा शहरी दोनों ही इलाकों में हिन्दू उग्रवादी संगठनों में तेजी के साथ बढ़ोतरी हुई और इस तरह के संगठन सामने आये। यह वही दौर था जबकि पूरे देश में समय समय पर छोटी छोटी साम्प्रदायिक हिंसक घटनायें घटित होती रहीं। वर्ष 1992–93 में आयोध्या के बाबरी मस्जिद–रामजन्म भूमि के प्रकरण ने एक उग्र विवाद का रूप धारण कर लिया जिसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक

जन संहार हुये। इस साम्प्रदायिक विवाद एवं साम्प्रदायिक जन संहार के लगभग 10 साल बाद वर्ष 2002 में गुजरात राज्य में हिन्दू एवं मुस्लिम समुदाय के बीच भंयकर साम्प्रदायिक दंगे हुए, यह साम्प्रदायिक दंगे देश के बंटवारे के बाद से लेकर उस वक्त तक के सबसे वीभत्स दंगे थे। वर्ष 2008 में उड़ीसा राज्य के कन्धमाल क्षेत्र में हिन्दू और ईसाई सम्प्रदाय के बीच साम्प्रदायिक/धार्मिक तनाव देखने को मिला। वर्ष 1999 में हिन्दुत्ववादी अतिवादियों द्वारा इसाई पादरी ग्राहम स्टेन एवं उनके दो अबोध बच्चों को जिंदा जला देने की घटना देश में बढ़ती धार्मिक असहिष्णुता की संस्कृति का सूचक है।

टी.एन. मदान, वीना दास और आशीष नन्दी जैसे कुछ विचारकों के अनुसार धर्म निरपेक्षता एक विचार के रूप में आधुनिक विज्ञान के द्वंदात्मक सिद्धांत तथा परम्परावाद और अंधविश्वास की अस्वीकृति की प्रवृत्ति से सामने आया, न कि मात्र धर्म की अस्वीकृति और तर्कवाद के विकास और विस्तार से।

भारत में देश के बंटवारे तथा एक उभरते हुए भारतीय राष्ट्र–राज्य की पृष्ठभूमि में एक ऐसे भारतीय समाज में धर्म निरपेक्षता को अपनाया गया जो समाज भिन्न–भिन्न संस्कृतियों, सभ्यताओं, भाषाओं, धर्मों और रीति रिवाजों–परम्पराओं वाला था। चूंकि यह (धर्म निरपेक्षता) एक वैज्ञानिक सोच पर आधारित है अतएव यह भारतीय समाज के परिदृश्य में अपनी जड़ें न तो तलाश पाया और न अपनी जड़ें जमा पाया। इन विचारकों ने यह भी मत व्यक्त किया तथा तर्क दिया कि धर्मनिरपेक्षता पश्चिमी दुनिया से आयातित एक सोच है जो भारतीय सांस्कृतिक संदर्भों से परे है। इनका दूसरा तर्क यह है कि दक्षिण एशिया की प्रमुख धार्मिक परम्परायें– बौद्ध, हिन्दु, इस्लाम और सिख वर्चस्ववादी प्रवृत्ति के हैं। यह धर्म इसके अनुयायियों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पूरी तरह से धार्मिक नियंत्रण चाहते हैं और यहां तक कि वे अपने धार्मिक सिद्धांतों के आधार पर समाज का संचालन करना चाहते हैं। अतएव यह धर्म अपने

अनुयायियों को किसी प्रकार की कोई निजी छूट नहीं देना चाहते हैं।

लेकिन यह याद रखा जाना चाहिए कि कोई भी धार्मिक सिद्धांत हिंसा की शिक्षा नहीं देता है। सभी के सभी धर्म एक वैश्विक मूल्यों की वकालत करते हैं। अर्थात् इन्सानियत के मूल्य को अहमियत देते हैं। धर्मों के इन मूल्यों, सिद्धांतों को ज्यादा से ज्यादा मजबूत करने तथा प्रचारित करने की जरूरत है। इससे सहिष्णुता (एक दूसरे के प्रति आदर की भावना) शांति तथा सह–अस्तित्व (आपस में मिल जुलकर शांतिपूर्वक साथ रहना) आदि को मजबूती मिलेगी तथा बंटवारा करने वाली ताकतों की साजिशों को रोकने में हम कामयाब हो सकेंगे। जहां तक वैज्ञानिक नज़रिये की बात है भारत में वैज्ञानिक नजरिये से ज्यादा अहमियत इस हकीकत की है कि भारतीय समाज में यह परम्परागत सर्व स्वीकृत मान्यता रही है कि सभी के सभी धर्म ईश्वर तक पहुंचने के अलग–अलग रास्ते हैं।

धर्म निरपेक्षता के रास्ते में भारत में सबसे बड़ी बाधा धर्म के बारे में गलतफहमियां हैं। इन गलतफहमियों को दूर किये जाने की जरूरत है। दूसरे धर्मों के बारे में गलतफहमियां समाज को संदेह और निराशा की तरफ ले जाती है। अलग–अलग धर्मों की संस्थाओं, समुदायों के बीच में गलतफहमियां तथा आपसी संदेह कायम हैं और इन शंकाओं को दूर करने के बहुत थोड़े से प्रयास किये गये हैं। असमानता के अर्थशास्त्र (आर्थिक असमानता), असमान विकास और पिछड़ेपन वे मुख्य कारण हैं जिनको आधार बनाकर साम्प्रदायिकता की राजनीति करने वाले लोग अपने धार्मिक समुदायों पर अपनी मजबूत पकड़ बनाये हुए हैं। पं. जवाहर लाल नेहरू ने इस संदर्भ में बहुत पहले वर्ष 1936 में कहा था कि ''साम्प्रदायिकता की समस्या एक धार्मिक समस्या नहीं है, इसका धर्म से कुछ लेना देना नहीं है।''

यह धार्मिक मतभेदों का उतना मामला नहीं था बल्कि इन

मतभेदों का तिकड़मबाज राजनीतिज्ञों द्वारा किया गया दुरुपयोग इस तरह के साम्प्रदायिक अलगाववादी प्रवृत्तियों का कारण था।

किसी व्यक्ति द्वारा अपने ही धर्म के बारे में गलत जानकारी, धर्मान्धता तथा कट्टरपंथ की तरफ उसे ले जाती है। यह कट्टरपंथी लोग ही हैं जो हिंसा तथा आतंकवाद को बढ़ावा देते हैं।

एक सिद्धांतकार प्रकाश चंद्र उपाध्याय ने बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक कट्टरपंथ के उभार को रेखांकित किया है। श्री प्रकाशचंद्र उपाध्याय के अनुसार 500 से भी ज्यादा साम्प्रदायिक सेनायें एवं दल तथा उनकी शहरी एवं ग्रामीण इलाकों में चलने वाली गतिविधियों ने एक अप्रत्याशित तनाव की हालात पैदा कर दी है। वे भारतीय धर्म निरपेक्षता की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह वास्तव में 'बहुसंख्यकवाद' है अर्थात् बहुसंख्यक हिन्दू राष्ट्रवाद की दासी के रूप में भारत में धर्म निरपेक्षता मौजूद है।

समकालीन समय में भारत में धर्मनिरपेक्षता के लिए सबसे बड़ी चुनौती के रूप में हिन्दू राष्ट्रवाद (हिन्दुत्व) सामने है। 1980 वाली दशाब्दी के बीच के सालों से हिन्दु पुनरुत्थानवादी संगठनों (भारतीय जनता पार्टी–बी.जे.पी., संघ परिवार, शिव सेना आदि) ने बड़ी तेजी के साथ भारतीय धर्मनिरपेक्षता की निंदा करना शुरू किया। इन हिन्दु पुनरुत्थानवादी संगठनों ने भारतीय धर्मनिरपेक्षता को ''छद्म–धर्म निरपेक्षता'' घोषित करते हुए यह मांग उठायी कि अल्पसंख्यकों को दिये गये विशेषाधिकार (राज्य द्वारा सकारात्मक उद्देश्य हेतु किया गया भेदभाव) समाप्त किये जायँ, इन विशेषाधिकारों को रद्द किया जाय। इनका उद्देश्य हिन्दुओं की पहचान तथा हिन्दुओं का सबलीकरण, एकजुटता है। इन ताकतों की लगातार यह कोशिश है कि राष्ट्रीयता एवं नागरिकता का मामला धर्म एवं भावनाओं पर आधारित हो। वे भारतीय राष्ट्रीयता के सवाल को एक नये ढंग से पेश करना चाहते हैं जिसका मूल आधार हिन्दु धर्म एवं हिन्दु संस्कृति हो। एक नये प्रकार के 'सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता' की अवधारणा को

लेकर वे सामने आये हैं, यह अवधारणा 'व्यक्ति विशेष' के 'धर्म–विशेष' पर आधारित होगी। जिसका मतलब है 'धर्म' को 'राष्ट्र' के बराबर रखा जाय जिसका दूरगामी मतलब होगा 'भारतीय राष्ट्रवाद' अर्थात 'हिन्दु राष्ट्रवाद'।

इस तरह गंभीर मसलों को तोड़ मरोड़कर तथा बदनीयती से पेश की गयी परिभाषा ने भारतीय राजनीति एवं भारतीय समाज की जीवन पद्धति में साम्प्रदायिकता को एक बार फिर से हवा दी। वे भारतीय हिन्दु समाज को अपने साथ ले आने के लिए बीते इतिहास की हिन्दुत्ववादी दृष्टि से व्याख्या करते हैं। इनकी कोशिश है कि हिन्दु जन मानस को यह समझाया जाय कि हिन्दुत्व की जड़ें बीते कल में हैं और उस बीते कल को पाने के लिए वे आगे बढ़ें। इस प्रचार के जरिये वे एक हिन्दुत्व धर्मवादी समाज के विचार को सामने लाते हैं और ऐसे ही समाज का निर्माण करना चाहते हैं। वे ऐसा इसलिए कर रहे हैं ताकि उनके द्वारा रचे–गढ़े गये तथाकथित इतिहास और विरासत का इस्तेमाल वे मौजूदा समय में अपनी राजनीतिक स्वार्थपूर्ति के लिए कर सकें। वे भारतीय इतिहास (भारतीय समाज के निर्माण एवं विकास) तथा भारतीय संस्कृति में मुसलमानों एवं अन्य अल्पसंख्यकों के किसी भी प्रकार के योगदान को स्वीकार नहीं करते। वे असहिष्णु मुस्लिम शासकों की निर्दयता, निरंकुशता का छांटकर उदाहरण देकर यह बताने का प्रयास करते हैं कि पूरा का पूरा मुस्लिम शासन काल और यहां तक कि पूरा का पूरा मुस्लिम समुदाय असहिष्णु, निरंकुश तथा निर्दयी है। इस तरह के पूर्वाग्रहों को धीरे–धीरे समाज में स्वीकृति मिलती जा रही है और यही प्रचारित–प्रसारित पूर्वाग्रह समाज की मुख्यधारा की राय बनाये जा रहे हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर इस तरह के प्रयासों को भारतीय इतिहास एवं भारतीय संस्कृति को विकृत करते हुए इसे तोड़–मरोड़कर पेश किये जाने का कार्य मानती हैं। रोमिला थापर के शब्दों में– ''हिन्दुत्व ऐतिहासिक रूप में एक अलग से

विकसित हुआ धर्म नहीं है। इसमें मौजूद कई पंथ स्वतंत्र रूप से विकसित हुए हैं। ये अलग–अलग पंथ, सम्प्रदाय अपनी खास जरूरतों की वजह से अपने भिन्न–भिन्न तौर तरीकों, देवी–देवताओं संबंधित मान्यताओं, पूजा पद्धतियों के रहते हुए भी अकसर एकजुट होते रहे हैं।'' इसका मतलब यह है कि हिन्दु सम्प्रदाय को एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में देखने की एकीकरण की प्रवृत्ति इस आधार पर सच नहीं मानी जा सकती जिसके तहत यह कहा जाता है कि यह प्राचीन समय से अस्तित्व में रही है।

मौजूदा भारतीय संस्कृति एक साझी संस्कृति है जिसका विकास एक जटिल ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के दरम्यान हुआ है। यह भिन्न–भिन्न संस्कृतियों का मिला–जुला, मिश्रित रूप है। इसका (मौजूदा भारतीय संस्कृति–साझी संस्कृति) विकास विभिन्न धर्मों–भारतीय मूल के धर्मों–बौद्ध, जैन, हिन्दु और बाहर से आने वाले धर्मों– ईसाइयत, इस्लाम के प्रभाव से हुआ है। अतएव यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज संस्कृति के संदर्भों में एक मिश्रित (मिला जुला) समाज है, और इसका विकास विभिन्न वादों (थेसिस)–प्रतिवादों (एन्टीथेसिस) के बीच से पैदा हुए संवाद (सिन्थेसिस) और समाज–संस्कृति पर प्रभाव डालने वाले विभिन्न सिद्धांतों के साथ आदान–प्रदान से हुआ है।

भारतीय इतिहास के एक महत्वपूर्ण भाग मध्यकालीन इतिहास के अहम योगदानों को नकारने की प्रवृत्ति केवल भारतीय इतिहास को तोड़ मरोड़कर पेश करना ही नहीं बल्कि पूरे के पूरे भारतीय इतिहास को नकारना है। हिन्दू राष्ट्रवादी इसे (मध्यकालीन भारत) पतन का काल कहते हुए इसे मुस्लिम उत्पीड़न का दौर मानते हैं, उनका यह कथन पूरी तौर पर पूर्वाग्रह से ग्रसित है। वे (हिन्दु राष्ट्रवादी) ऐसा कहते समय बादशाह अकबर के शासन काल, उनके शासन काल के योगदानों और स्थापत्य कला के क्षेत्र में उनके किये गये कामों को एकदम नकार देते हैं। इस मामले में राष्ट्रीय आन्दोलन तथा राष्ट्रीय नेता भी अछूते नहीं हैं।

कुछ राष्ट्रीय नेताओं (पटेल, गांधी, तिलक) को भी हिन्दु नेता होने का दावा किया जाता है। भारत के लोगों (भारतवासियों) तथा उनके भूतकाल को नकार कर किये जाने वाला यह कारनामा शुद्ध रूप से साम्प्रदायिक उद्देश्यों की पूर्ति की सेवा करने के अलावा और कुछ नहीं है। इतिहास केवल किसी धर्म विशेष के बारे में नहीं होता बल्कि यह बीते कल और लोगों के बारे में होता है और इसे एक विरासत के रूप में समझे जाने/लिये जाने की जरूरत है।

इस प्रकार की भ्रामक व्याख्याओं तथा इनके पड़ने वाले प्रभावों को पिछले समय में एक खरतनाक रूप में देखा गया है और यह खतरनाक सिद्ध हुआ है। इस तरह की प्रवृत्ति, सोच और नजरिया नेहरू के उदार, सबको साथ लेकर चलने और सबको समाहित करने वाले धर्म निरपेक्षता के मॉडल के लिए एक गंभीर चुनौती है। विचारक आशीष नन्दी ने हिन्दु राष्ट्रवाद की आलोचना करते हुए इसकी डिज़ाइन की निंदा की है और 'हिन्दू राज' को वास्तविकता से दूर की बात कहा है।

निष्कर्ष

हकीकत में भारत में धर्म निरपेक्षता की मूल आत्मा है– सबको सम्मिलित/समाहित करना, धार्मिक अनेकता और शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व। भारतीय धर्म निरपेक्षता का मुख्य तत्व धार्मिक सहिष्णुता है, जो आज गायब होता जा रहा है। इसके गायब होते जाने ने विघटन करने वाली, बंटवारा करने वाली ताकतों को धर्म निरपेक्षता की जड़ खोदने का मौका उपलब्ध कराया है। धर्म निरपेक्षता को खतरा वास्तव में भारतीय लोकतंत्र पर खतरा है। लेकिन इतने के बावजूद भी भारतीय समाज में एक ऐसा बड़ा हिस्सा मौजूद है जिसका यह मानना है कि धर्म निरपेक्षता ही एकमात्र ऐसा रास्ता है जिसके जरिये भारत शांति, स्थायित्व और लोकतांत्रिक एकजुटता हासिल कर सकता है।

भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्ष प्रावधानों (जिनका जिक्र पहले

ही किया जा चुका है) को रखा गया है लेकिन अगर यह लागू हो पाया है तो इसे हमारे (लोगों के) जीवन और हमारी सोच में दिखना चाहिए। केवल राज्य ही नहीं बल्कि पूरे देशवासियों को भी व्यापक पैमाने पर धर्मनिरपेक्षता के वसूलों के मुताबिक अपना जीवन जीना चाहिए, समाज में रहना चाहिए। लोगों को देश के अंदर मौजूद धर्मों और उनके बुनियादी वसूलों के बारे में जागरूक किया जाना चाहिए जिससे कि सत्ता के भूखे लोग उन्हें गुमराह न कर सकें। आज इस बात की जरूरत है कि लोकतांत्रिक माहौल में सलीके के साथ बहस चलायी जाय जिससे कि आपस में कायम भ्रम–शंका और अविश्वास को कम किया जा सके, खतम किया जा सके। जो भी धार्मिक ग्रंथों की तोड़ मरोड़कर व्याख्या करता है उसके साथ सख्ती से निपटने की जरूरत है।

और आखिर में, असगर अली इंजीनियर का यह कहना एकदम सही है कि यह बार–बार सिद्ध हुआ है कि राजनीति मतभेद पैदा करने वाली रही है, न कि धर्म। एक ऐसे समाज में जहां पर अनेक धर्म को मानने वाले हों वहां पर राजनीति का आधार मुद्दे होने चाहिए न कि पहचान का सवाल। अन्यथा यह (पहचान की राजनीति) असंतोष पैदा करेगी और पागल हिंसा को बढ़ायेगी।

4

भारतीय संस्कृति : एक परिचय

संस्कृति लोगों के एक समूह विशेष द्वारा जीये जाने वाली जीवन पद्धति है, जिसे वह पूरी तौर पर समाज से ग्रहण करता है। इंग्लैण्ड के सांस्कृतिक मानव शास्त्री एडवर्ड बी. टेलर के अनुसार संस्कृति एक ऐसी पूर्ण इकाई है जो बहुतेरी बातों से मिलकर बनती है जैसे ज्ञान–जानकारी, विश्वास, कला, नैतिक मानदण्ड, परम्परायें और ऐसी तमाम काबिलियत–आदतें जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य होने के नाते पाता है। संस्कृति एक कम्प्यूटर के प्रोग्राम की तरह काम करता है। वह कम्प्यूटर के साफ्टवेयर की तरह काम करते हुए लोगों को यह निर्देश देता रहता है कि समाज में विभिन्न परिस्थितियों में क्या और कैसे करने की जरूरत है? मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृति में खासतौर पर समाज से प्राप्त किये गये सोचने के तरीके, भावनायें और समाज विशेष के सदस्यों द्वारा किये जाने वाले कार्य–गतिविधियां सम्मिलित होते हैं।

पूरी दुनिया के पैमाने पर अलग–अलग और तमाम तरह की सभ्यतायें, संस्कृतियाँ मौजूद हैं, और दुनिया में अलग–अलग सामाजिक–राजनीतिक–भौगोलिक तथा सांस्कृतिक विभिन्नताएं वाले तमाम राष्ट्र भी हैं। एक राष्ट्र के रूप में भारत में सांस्कृतिक स्तर पर तमाम अहमियत रखने वाली खासियतें मौजूद हैं। जहाँ तक संस्कृति का सवाल है, भारत में बीते समय में और मौजूदा समय में विशिष्ट तथा विभिन्नता वाली परम्परायें जो परम्परागत रूप से समाज द्वारा मिलती रही हैं, शामिल हैं। भारत की सभ्यता दुनिया की सबसे प्राचीन सभ्यताओं में से एक है। आज जो

भारतीय संस्कृति हमारे सामने है उसकी रचना तथा विकास विभिन्न संस्कृतियों–सभ्यताओं के साथ मेल–मिलाप और आपसी आदान–प्रदान के माध्यम से इतिहास के विभिन्न दौरों में हुआ है। एक लम्बा इतिहास रखने वाली तथा भिन्न–भिन्न तत्वों से बनी सामाजिक संरचना वाली भारतीय संस्कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता के तौर पर ''अनेकता में एकता'' रही है। भारतीय समाज में मौजूद विभिन्न पक्षों में हालांकि विशाल विविधता है फिर भी जीवन के बारे में एक साझी आध्यात्मिक सोच दिखती रही है। इस साझी आध्यात्मिक सोच के विकास एवं निर्माण में विभिन्न धर्मों, विभिन्न मानवीय नस्लों ने अपना योगदान किया है।

भारतीय समाज बहुत पुराना तथा बहुत ही विभिन्नताओं वाला, अत्यंत ही दुरुह है। जहाँ तक भारतीय समाज की प्राचीनता का सवाल है, एक सर्वमान्य आकलन के अनुसार इसकी पहली ज्ञात सभ्यता कम से कम 5 हजार साल पुरानी है। भारतीय सभ्यता के इस लम्बे दौर में बाहर से भारत में आने वाले लोगों की अलग–अलग धारायें रही हैं। बाहर से आने वाली इन अलग–अलग धाराओं के लोगों में ऐसे लोग शामिल थे जो अलग–अलग जातीयताओं, धर्मों तथा भाषाओं से ताल्लुकात रखते थे। यह सारे लोग अलग–अलग दौर में भारत में आये और यहां की आबादी का हिस्सा बन गये। इन लोगों ने भारतीय समाज की सांस्कृतिक विविधता, सांस्कृतिक समृद्धि और जीवन शक्ति में अपना योगदान समय–समय पर किया। आज समकालीन भारतीय समाज में सामाजिक विकास के अलग–अलग स्तरों के गुण एक साथ मौजूद हैं : आदिमकालीन शिकारी और भोजन की तलाश में इधर–उधर भटकने वाला सामाजिक विकास का दौर, इधर–उधर स्थान बदलकर छड़ और कुदाल की मदद से खेती करने वाले सामाजिक विकास का दौर, खाना बदोश जिंदगी जीने वाली सामाजिक विकास की हालत, एक स्थान पर ठहरकर (बसकर) हल के माध्यम से खेती करने वाले सामाजिक विकास का दौर, दस्तकार, भू–स्वामी और प्राचीन समय के कबीलों के मालिकाने आदि के दौर के सामाजिक विकास का दौर। इन गुणों के प्रभाव

में या सामाजिक विकास की अलग–अलग अवस्थाओं में आज भी लोग किसी न किसी रूप में रह रहे हैं। दुनिया के लगभग सभी महत्वपूर्ण धर्म– हिन्दु, इस्लाम, ईसाइयत, बौद्ध यहां पर हैं और इसके साथ ही साथ अचरज की बात यह है कि विभिन्न धर्मों के अन्दर ही तमाम फिरके, पंथ, मत, सम्प्रदाय भी मौजूद हैं, जिनकी अलग–अलग मान्यतायें, परम्परायें तथा धार्मिक रीति रिवाज हैं।

इसके अलावा आज आधुनिक अफसरशाही, विद्वान समाज, उद्योग और विज्ञान से जुड़े सम्पन्न एवं प्रभुता सम्पन्न वर्ग भी समाज में मौजूद हैं। साथ ही साथ मध्यम श्रेणी के लोगों की बढ़ती आबादी और इस प्रकार हम पाते हैं कि इस भारतीय समाज में आज बीता कल, मौजूदा आज और आने वाला कल एक साथ रह रहे हैं। भारतीय संस्कृति के विकास की प्रक्रिया में भारतीय समाज ने एक साझी संस्कृति को ग्रहण किया है, प्राप्त किया है जो भारतीय समाज के बहुलतावादी (विविधतापूर्ण) चरित्र में साफ तौर पर झलकता है और यही बहुलतावादी गुण भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषता के रूप में उभरकर सामने आता है।

(I) संस्कृति एवं राष्ट्र : भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति को समझना

मनुष्यों का एक समूह जिसे समाज कहा जाता है इसी में संस्कृति रहती है। यदि किसी समाज में राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता है या वह समाज राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता चाहता है तो ऐसे समाज को राष्ट्र कहते हैं। राष्ट्र के बारे में एक सामान्य समझदारी यह है कि लोगों का एक ऐसा समूह जो एक राजनीतिक व्यवस्था और एक राज्य में रहता है उसे राष्ट्र कहा जाता है। लेकिन राष्ट्र के लिए इतनी ही विशेषता पर्याप्त प्रतीत नहीं होती। एक आदर्श राष्ट्र के लिए पूर्व शर्तें हैं : एक निश्चित भौगोलिक सीमा का निवासी होना, जातीयताओं, धर्म, भाषा की एकता और सामान्य संस्कृति तथा साझा इतिहास। फिर भी भौगोलिक सीमाओं की एकता तथा सामान्य सांस्कृतिक जीवन में एकरूपता राष्ट्रीयता के लिए न्यूनतम अनिवार्य पूर्व शर्त

हैं। इसके अलावा एक जैसी भाषा, जातीयता, धर्म का साझापन यदि किसी राष्ट्र के नागरिकों में है तो वह राष्ट्रीयता को मजबूती प्रदान करने में अतिरिक्त गुण के रूप में होता है।

एक राष्ट्र की जिन विशेषताओं को ऊपर बताया गया है उनमें से कई विशेषतायें भारत में बाकायदा मौजूद हैं और भारत में मौजूद यह विशेषतायें एक बेहतर राष्ट्र और एक महान संस्कृति होने की परिचायक हैं। राष्ट्र की अनिवार्य पूर्व शर्तों में पहली पूर्व शर्त–भौगोलिक एकता, भारत में है और इस स्तर की है कि उस स्तर की भौगोलिक एकता की बहुत कम राष्ट्र–राज्य शेखी बघार सकते हैं। अविभाजित भारत भी एक स्वनिर्भर आर्थिक इकाई था और यह भी महत्वपूर्ण तथ्य है कि विभाजन के बाद भारत के बचे शेष भाग के पास भी संतुलित विकास के लिए जरूरी प्राकृतिक संसाधन हैं, बशर्ते कि वे (प्राकृतिक संसाधन) ठीक–ठाक ढंग से विकसित किये जा सकें। जहां पर (भारत के संदर्भ में) इस तरह की भौगोलिक तथा आर्थिक एकता हो वहां पर निश्चित तौर पर कोई भी स्वाभाविक रूप से किसी न किसी रूप में सांस्कृतिक एकता की अपेक्षा रखेगा क्योंकि किसी क्षेत्र की सांस्कृतिक एकता को एक आकार देने में भौतिक एवं आर्थिक मामले, एक मात्र तो नहीं, मगर प्रमुख तौर पर प्रभाव डालते हैं। जब हम भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर निगाह डालते हैं तो पाते हैं कि तमाम बहुआयामी मतभेदों के बावजूद भी भारतीय समाज में सोचने–समझने (चिंतन), भावनात्मक तथा जीवन जीने के तौर तरीकों में एक बुनियादी समानता मौजूद है। यह बुनियादी समानता राजनीतिक बदलावों के साथ ज्वारभाटे की तरह घटती–बढ़ती रही है मगर कभी भी खत्म नहीं हुई। भारतीय समाज के एक साझे इतिहास ने इस समाज की एकता बनाये रखने वाले एक महत्वपूर्ण कारक की भूमिका अदा की है और इसने सभी को एकजुटता के सूत्र में बांधे रखने में अपनी ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया है। दुनिया के दूसरे हिस्सों से भारत में आने वाले लोगों में से अधिकतर लोग भारत के मूल निवासियों के साथ अगल–बगल हजारों साल से रहते आ रहे हैं।

इस तरह के बाहर से आने वाले लोगों में सबसे बाद में उत्तरी–पश्चिमी मुल्कों से आने वाले मुसलमान हैं जो यहां पर (भारत में) 8सौ से 12सौ सालों से रह रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीयता की तीन मुख्य पूर्व शर्तें– भौगोलिक एकता, आर्थिक एकता एवं साझा इतिहास– भारतीय राष्ट्र में कायम है और किसी राष्ट्र के लिए अनिवार्य यह पूर्व शर्तें भारत में किसी भी पश्चिमी मुल्क से ज्यादा बेहतर हालात में हैं। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत में क्षेत्रीय/स्थानीय एवं साम्प्रदायिक भिन्नतायें सतही तौर पर तो हैं मगर यदि हम गहराई से गौर करें तो पाते हैं कि भारतीय समाज में बुनियादी एकता की जड़ें गहराई तक फैलीं हुई हैं। लेकिन जहां एक तरफ इस तरह की सांस्कृतिक एकता की प्रवृत्तियाँ भारत में मौजूद हैं वहीं पर दूसरी तरफ भारतीय समाज की साझी संस्कृति के सामने कुछ भारतीय चुनौतियां भी हैं। कबीलावाद, भाषायी एवं क्षेत्रीय संकुचित सोच और धर्म आधारित साम्प्रदायिकता की सोच एक विघटनकारी ताकत के रूप में भारतीय समाज में काम कर रही है।

(II) अनेकता में एकता : भारत की बहुलतावादी संस्कृति

भारत अपनी बहुलतावादी संस्कृति के लिए जाना जाता है। भारतीय समाज में नस्लीय एवं जातीयता की विभिन्नतायें, भाषायी–धार्मिक तथा सामाजिक संस्थानों की विभिन्नतायें एक साथ मौजूद हैं। भारतीय समाज में मौजूद यह विभिन्नतायें समाज को साझेपन की तरफ भी ले जाती हैं। संविधान, तीर्थस्थान, एक केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था, एक साझा इतिहास, साथ में मिलजुल कर रहने तथा दूसरों को भी अपनाने की परम्परा जो भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में गहराई के साथ मौजूद हैं आदि तथ्य भारतीय समाज की विशेषतायें हैं जिन्होंने भारत के वासियों को एकजुट बनाये रखा है। इस प्रकार हम पाते हैं कि भारतीय समाज में बहुलतावादी संस्कृति विकसित होती है, मतभेद और

भिन्नतायें रहती हैं, इन भिन्नताओं के साथ सहिष्णुता दिखायी जाती है और इन भिन्नताओं को आत्मसात भी किया जाता है, और इस प्रकार एकजुटता कायम रखी जाती है।

सामान्यतौर पर विभिन्नताओं से मतलब अलग होने से (भेद(फर्क) होने से) लिया जाता है। भारतीय संस्कृति के संदर्भ में विभिन्नताओं (अनेकताओं) से मतलब सामूहिक भेद या फर्क के तौर पर लिया जाना चाहिए। यह वे विभिन्नतायें ही हैं जिनके कारण लोगों का एक समूह लोगों के किसी दूसरे समूह से नस्लीय या जातीय, धार्मिक और भाषायी आधार पर अलग दिखता है या अलग होता है। एकता का मतलब (अनेकानेक भिन्नताओं का) एकीकरण होता है। यह एक सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति होती है। इसके द्वारा एक होने का अर्थ निकलता है तथा 'मैं' के बजाय 'हम' वाली भावना–संवेदना व्यक्त होती है। यह उन सामाजिक बंधनों को अभिव्यक्त करता है जो बंधन समाज को एक सूत्र में एक साथ बांधकर रखते हैं। और यह समझना बहुत महत्वपूर्ण है कि यह एकता एकरूपता नहीं है। एकरूपता का मतलब एक ऐसी अवस्था से है जहां पर सब बातें एक–समान हों अर्थात् रहना–खाना–पहनावा–भाषा–धर्म सब एक हो। लेकिन एकता के लिए इस तरह की एक समानता की जरूरत नहीं होती। भारत राष्ट्रीय एकता की भावना से अपनी बहुलतावादी संस्कृति पर गर्व करता है।

भारत में विभिन्नताओं (अनेकता) के रूप–स्वरूप :

भारत में मौजूद अनेकता के कई रूप–स्वरूप मौजूद हैं :–

(1) नस्लीय या जातीयताओं की अनेकता :

भारत में अनेक प्रकार की विभिन्नता वाले गुणों के साथ अपनी–अपनी नस्लीय या जातीयता की विशेषतायें संजोये लोगों के अलग–अलग समूह बहुत प्राचीन काल से रहते आ रहे हैं।

इसीलिए भारत को एक ''विभिन्न नस्लों के संग्रहालय'' के रूप में माना जाता है। हर्बर्ट रिसले जो कि एक मानव–विज्ञानी हैं, ने भारत के लोगों को 7 नस्लीय समूहों में रखा है :–

(1) तुर्क–इरानियन (टर्को–इरानियन)

(2) इण्डो–आर्यन (इण्डो–आर्यन)

(3) सीथियन–द्रविड़ (सीथो–ड्रेवेडियन)

(4) आर्य–द्रविड (आर्यो–ड्रेविडेयन)

(5) मंगोल–द्रविड़ (मांगलो–ड्रेवेडियन)

(6) मंगोल (मांगोलायड)

(7) द्रविड़ (ड्रेवेडियन)

इन सात नस्लीय प्रकारों को कम करके मुख्य तौर पर इन्हे तीन कोटियों में रखा जा सकता है– इण्डो–आर्यन, मंगोलियन और ड्रेवेडियन।

(2) भाषायी अनेकता :

जहाँ एक तरफ प्रसिद्ध भाषा–विज्ञानी ग्रियर्सन ने भारत में 179 भाषाओं तथा 544 बोलियों को चिन्हित किया है वहीं 1971 की जनगणना के आधार पर देश में 1652 ऐसी भाषाओं की रिपोर्ट दी गयी है जो मातृ–भाषा के रूप में भारत में इस्तेमाल होती हैं, हालाँकि भारतीय संविधान के खण्ड VIII में केवल 18 भाषाओं को सूची में शामिल किया गया है। यह भाषायें हैं– असमिया, बांगला, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, कोंकड़ी, मलयालम, मणिपुरी, मराठी, नेपाली, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत, सिंधी, तमिल, तेलगु एवं उर्दू। भाषाओं की अनेकता होते हुए भी हम हमेशा एक सम्पर्क भाषा समय–समय पर विकसित करते हैं और इस्तेमाल करते हैं हालांकि यह (सम्पर्क भाषा) इतिहास के अलग–अलग दौर में अलग–अलग रही है। प्राचीन काल में यह संस्कृत थी, मध्यकालीन युग में यह अरबी या पारसी थी और आज आधुनिक

काल में प्रशासनिक भाषा एवं सम्पर्क भाषा के रूप में हम अपने देश में हिन्दी और अंग्रेजी का प्रयोग कर रहे हैं।

(3) धार्मिक अनेकता :

भारत तमाम धर्मों की भूमि है। भारत में तमाम धार्मिक विश्वासों को मानने वाले लोग निवास करते हैं। भारत की कुल आबादी का 80.5 प्रतिशत हिस्सा हिन्दु धर्म मानने वालों का है। भारत में रहने वाले अल्पसंख्यकों में सबसे बड़ी आबादी मुसलमानों की है। अन्य धर्मों की ही तरह इस्लाम ने भारत की बहुलतावादी संस्कृति को सम्पन्न बनाने–मजबूत करने में तमाम तरह से अपना योगदान किया है। भारत की कुल आबादी में अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों की आबादी का प्रतिशत इस प्रकार है– इसाई (2.3 प्रतिशत), सिख (1.9 प्रतिशत), बौद्ध (0.8 प्रतिशत) और जैनी (0.4 प्रतिशत)। इसके अलावा कुछ और धार्मिक अल्पसंख्यक भारत में हैं– जैसे यहूदी, जोरोस्ट्रियन्स और बहाई तथा एबोरिजिनल्स आदि। इसके साथ ही साथ सभी धर्मों के अंदर अलग–अलग पंथ भी हैं। उदाहरण के लिए हिन्दुओं में कई अलग–अलग पंथ हैं– जिसमें शैव, वैष्णव और शाक्त शामिल हैं। हालांकि हिन्दु और मुसलमान देश के लगभग सभी हिस्सों में पाये जाते हैं परंतु अन्य धार्मिक अल्पसंख्यक किसी क्षेत्र विशेष में ही खासतौर पर पाये जाते हैं। भारत की संस्कृति व्यापक पैमाने पर एक रंगीन चादर की तरह एक साझे भौगोलिक क्षेत्र में पूरे इतिहास के दौर में रही है और इसकी बुनावट विभिन्न धर्मों के अलग–अलग रंगों के धागों से की गयी है।

(4) जातीय अनेकता :

भारत, सामाजिक बहिष्करण (अलग–थलग करना) की प्रवृत्ति को व्यवहार में उतारने के लिए जाना जाता है और यह सामाजिक बहिष्करण जाति पर आधारित है। जाति वंशानुक्रम ढंग से चलने वाला एक ऐसा समूह है जिसकी जड़ें शुद्धता और पवित्रता के सिद्धान्तों पर आधारित होती हैं। यह जाति की अवधारणा भारतीय

समाज में तमाम प्रकार की सामाजिक विषमताओं के लिए दरवाजा खोलने वाली भी रही है। जाति का स्पष्ट प्रभाव भारतीय समाज की तमाम सांस्कृतिक गतिविधियों पर देखा जा सकता है। भारतीय हिन्दु समाज में वर्ण व्यवस्था है और 4 प्रमुख वर्ण बनाये गये हैं– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन वर्णों में तमाम जातियां भी शामिल हैं। यह जातियां एक बार फिर विभिन्न उप जातियों में बांटी गयी हैं। यह बहुत ही ताज्जुब की बात है कि भारत में 3000 से भी ज्यादा जातियां हैं। भारत के अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग तरीके से (जातियों के आधार पर) भारतीय समाज की विभिन्न जातियों का उच्च–नीच क्रम (श्रेणी बद्धता) निर्धारित किया गया है। यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है और इस पर गौर किया जाना चाहिए कि हिन्दुओं में कायम जाति–व्यवस्था (वर्ण व्यवस्था) ने धर्म की सीमाओं को तोड़ दिया है। भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के प्रभाव को इस बात में देखा जा सकता है कि मुसलमानों, इसाइयों, सिखों के साथ ही साथ अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों के बीच भी जाति मौजूद है।

अनेकता के अन्य रूप :

ऊपर दिये गये अनेकता के तमाम रूपों के अलावा भी भारतीय समाज में अनेकता के और भी रूप–स्वरूप मौजूद हैं। हमारे समाज में अन्य तमाम बातों को लेकर विभिन्नता है जैसे रहने–बसने (बसावट) के तौर–तरीके, आदिवासी, ग्रामीण एवं शहरी, कला, दस्तकारी, हस्तकला, त्यौहार और वास्तुकला; धार्मिक और क्षेत्रीय आधारों पर शादी विवाह एवं उत्तराधिकार और उसी प्रकार सांस्कृतिक रूप–स्वरूप जो क्षेत्रीय स्तरों पर अलग–अलग हैं।

भारत में एकता के सूत्र :

(भारतीय समाज में कायम एकता के आधार बिन्दु)

भारतीय समाज में मौजूद विभिन्नताओं को रेखांकित करते हुए उन आधारभूत सूत्रों को ढूंढ़ा जा सकता है जो भारतीय समाज

की एकता के प्रमुख सूत्र हैं। भारतीय संस्कृति की विभिन्नताओं के जरिये भी भारतीय समाज की एकता के उस धागे को पाया जा सकता है जिसने भारत को कश्मीर से कन्याकुमारी तक एकता के सूत्र में बांध रखा है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति की एकता के प्रमुख सूत्रों को जिन्होंने भारतीय समाज को एकजुट बनाये रखा है, को हम कुछ इस तरह रख सकते हैं :

(अ) भौगोलिक एवं राजनीतिक एकता :

भारत की भौगोलिक एवं राजनीतिक अखण्डता भारत की एकता का एक प्रभावकारी सूत्र या आधार है जो कि विभिन्नताओं को एक सूत्र में पिरोता है। भारत की भौगोलिक एकता को हम सुदूर उत्तर में हिमालय पर्वत श्रेणी तथा उसकी विपरीत दिशा में स्थित महासागर तक पाते हैं। जब कोई भारतीय संस्कृति के बारे में बात करता है तो उसकी निगाह में भारत की यह प्राकृतिक–भौतिक तस्वीर सामने होती है। राजनीतिक रूप से अब भारत एक प्रभुता सम्पन्न राज्य है। आज के समकालीन दौर में जब हम भारतीय राष्ट्र–राज्य के सन्दर्भ में बात करते हैं तो इसकी तमाम विशेषताओं में भारतीय संविधान एक ऐसी प्रमुख विशेषता के रूप में उभरकर सामने आता है जो भारत की एकता के प्रमुख सूत्रों में से एक है। यह भारतीय संविधान अपने सभी नागरिकों को एक समान अधिकारों, कर्त्तव्यों, शक्तियों, विशेषाधिकारों तथा सुरक्षा की गारण्टी देकर देश के विभिन्न हिस्सों तथा समाज के विभिन्न तबकों को एक साथ लाने में अपनी भूमिका अदा करते हुए देश की, समाज की एकता को एक आधार उपलब्ध कराता है। एक ही संविधान तथा एक ही संसद के अधीन पूरे देश की शासन व्यवस्था संचालित की जाती है। पूरे देश में लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद के मानदण्ड़ों को अपनाते हुए एक ही प्रकार की राजनीतिक संस्कृति का हम अनुशरण करते हैं।

हालांकि अभी हाल तक इस बात को पूरी मान्यता नहीं मिल पायी है परंतु यह सच है कि भारत के शासकों तथा भविष्य द्रष्टाओं ने

हमेशा भारत की भौगोलिक राजनीतिक एकता के लिए स्पष्ट दृष्टि रखी है। भौगोलिक–राजनैतिक एकता की यह स्पष्ट दृष्टि तथा चेतना की अभिव्यक्ति हमें ऋृग्वेद, संस्कृत साहित्य, सम्राट अशोक की राजाज्ञाओं, बौद्ध स्मारकों और अन्य तमाम स्रोतों में मिलती है। भारतवर्ष (भारत का प्राचीनतम सांस्कृतिक नाम), चक्रवर्ती (सम्राट) और एक क्षत्राधिपति (एक शासन के अधीन) जैसे प्राचीन शब्दों के पीछे छिपी समझ के जरिये हम भारत के भौगोलिक–राजनीतिक एकता के आदर्श को प्रतिबंधित होते देखते हैं।

(ब) तीर्थ यात्रा, मंदिर एवं पवित्र धार्मिक स्थानों की संस्कृति :

मन्दिरों एवं अन्य धार्मिक पवित्र स्थानों की संस्कृति के रूप में एकता के एक अन्य स्रोत को रखा जा सकता है, यह मन्दिरों–धार्मिक स्थानों तथा तीर्थ स्थानों की संस्कृति उन स्थानों के बीच स्थापित नेटवर्क (तालमेल) के रूप में अभिव्यक्त होती है। उत्तर में केदारनाथ एवं बद्रीनाथ से लेकर दक्षिण में रामेश्वरम तक और पूरब में जगन्नाथपुरी से लेकर पश्चिम में द्वारका तक, देश की लम्बाई तथा चौड़ाई में चारों तरफ पवित्र धार्मिक स्थान, और पवित्र नदियां फैली हुई हैं। पूरे भारत में विभिन्न धार्मिक समुदायों के पवित्र धार्मिक स्थान फैले हुए हैं। मुसलमानों की दरगाहें तथा सिखों के गुरुद्वारे इसके उदाहरण के रूप में रखे जा सकते हैं। राजस्थान राज्य के अजमेर शरीफ में स्थित ख्वाजा मोइन–उ–द्दीन चिश्ती की दरगाह और अमृतसर (पंजाब) के सुवर्न क्षेत्र में स्थित स्वर्ण मन्दिर भारत के मशहूर तीर्थ स्थानों में से हैं। प्रमुख तीर्थ स्थानों से पीढ़ियों–पुरानी तीर्थ यात्रा की संस्कृति जुड़ी हुई है। तीर्थ यात्रा की इस संस्कृति के तहत लोग देश के विभिन्न भागों में तीर्थ यात्रा करने के लिए बहुत पुराने समय से ही आते–जाते रहे हैं। इस प्रकार होती रही तीर्थ यात्राओं ने हमेशा से ही हमारे समाज में भौगोलिक–सांस्कृतिक एकता के भाव को बढ़ाने में अपनी एक खास भूमिका अदा की है।

तीर्थ यात्रायें धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के अलावा मातृभूमि के प्रति प्रेम का भी इजहार करती हैं और एक प्रकार से पूरे देश की इबादत के रूप में भी इन्हे देखा जा सकता है। तीर्थ यात्राओं ने देश के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के बीच में सांस्कृतिक–नजदीकी और आपसी विचार–विमर्श तथा आपसी सम्पर्कों को बढ़ाने में एक अहम् भूमिक निभायी है। इसलिए तीर्थयात्राओं को भौगोलिक–सांस्कृतिक एकता के एक तन्त्र के रूप में मानना एक सही दृष्टि है।

(स) आत्मसात करने की परम्परा :

अपने से भिन्नता रखने वाले लोगों को भी अपने में शामिल करने की परम्परा, विभिन्नताओं के अनुकूल अपने को ढालना तथा सहिष्णुता भारतीय संस्कृति की बुनियादी खासियत है। हिन्दु धर्म– भारत की बहुसंख्यक आबादी का धर्म है। यह धर्म अपने लचीलेपन के गुण के नाते विभिन्नताओं को आत्मसात करने की परम्परा के अनुकूल रहा है। तमाम अलग–अलग पंथों का साथ–साथ मौजूद रहना, धार्मिकता–धर्मपरायण और श्रद्धा भक्ति तथा आध्यात्मिकता जो भारतीय समाज में कायम रही है साथ ही आध्यात्मिक–धार्मिक रास्तों के अलग–अलग होने के बावजूद भी उद्देश्य (ईश्वर की प्राप्ति) में समानता और कभी–कभी एकरूपता स्पष्टतौर पर भारतीय समाज में दिखाई देती है। यह एक सर्वसामान्य जानकारी है कि हिन्दु धर्म एक ईश्वरवादी नहीं रहा है अर्थात् केवल एक ईश्वर में विश्वास नहीं करता, केवल एक पवित्र धार्मिक ग्रन्थ या किसी एकमात्र मन्दिर में विश्वास नहीं करता। हिन्दु धर्म को परिभाषित करने का सर्वोत्तम तरीका है इसे 'पंथों/सम्प्रदायों का फेडरेशन' कह कर सम्बोधित करना। बहुदेववाद या बहु ईश्वरवाद अर्थात् बहुत से देवताओं/ईश्वरों को मानने की विशेषताओं के कारण हिन्दु धर्म ग्राम देवता (ग्राम स्तर के मान्य देवी/देवता) और कबीलाई धार्मिक विश्वासों को भी अपने धर्म में उचित और सम्मानजनक स्थान ही नहीं देता बल्कि उन्हें स्वीकृति भी प्रदान करता है।

हिन्दु धर्म का आचरण हमें दो रूपों में दिखता है– संस्कारित धार्मिक आचरण (विधि विधान पूर्वक धर्म का आचरण) और दूसरा जन–सामान्य में प्रचलित धार्मिक आचरण। संस्कारित हिन्दुवाद वह है जो धार्मिक ग्रन्थों (जैसे वेद, उपनिषद) में वर्णित है और प्रचलित हिन्दुवाद वह है जो समाज की व्यापक आबादी द्वारा व्यवहार में दिखायी देता है। यह धार्मिक परम्परा दो रूपों में रखी जा सकती है पहली– रामायण एवं महाभारत की 'महान परम्परा' और दूसरी ग्रामीण स्तर की देवी–देवताओं की उपासना की परम्परा। ऊपर कही गयी बातों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दु धर्म एक खुला, ग्रहणशील और आत्मसात (अर्थात् सिद्धांतों–मतों को ग्रहण करने और इन्हें अपने में मिला लेने, शामिल कर लेने) करने वाला धर्म है। यह धर्म अपने खुलेपन (कट्टरपंथ को नकारने) और बाहर से प्राप्त होने वाली मान्यताओं को अपने में समाहित कर लेने की विशेषताओं के लिए जाना जाता है।

व्यापक स्तर पर प्रचलित आपसी आदान–प्रदान की संस्कृति, परम्पराओं के मिले जुले स्वरूप और विभिन्न पंथों–विश्वासों के बीच समानताओं को ढूंढने की सोच ने समकालीन समय में भारत के लोकप्रिय धार्मिक जीवन को काफी बड़े स्तर पर प्रभावित किया है। भारतीय संस्कृति के प्रवाह को बनाये रखने में देश के अंदर से उत्पन्न विचारों और देश की सीमाओं के बाहर से आने वाले विचारों–परम्पराओं ने अपनी भूमिका अदा की है। देश के अंदर से ही उत्पन्न भक्ति एवं सूफी परम्परायें जो हिन्दुओं, मुसलमानों तथा सिखों तीनों धार्मिक समुदायों में विकसित हुईं और प्राचीन भारत की बौद्ध धर्म की अहिंसा की परम्पराओं ने भारतीय संस्कृति के प्रवाह को आगे बढ़ाया है। विभिन्न धार्मिक समुदायों के भारत की जमीन पर आने और साथ–साथ मिलजुल कर साथ में रहने की वजह से भारत में एक ऐसी संस्कृति का माहौल बनता गया जिसने लोगों में सह–अस्तित्व (एक दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए शांतिपूर्वक साथ में रहना) की धारणा के प्रति एक मजबूत विश्वास पैदा किया। विभिन्नताओं को भी आत्मसात करने और मतभेदों के प्रति भी सहिष्णुता रखने के

गुणों ने भारत में अलग–अलग पंथों–धार्मिक समुदायों के सह–अस्तित्व का मार्ग प्रशस्त किया। यहां पर विभिन्न पंथों के मानने वाले लोगों के बीच में सह–अस्तित्व का तन्त्र एक लम्बे समय से कायम रहा है। भारतीय समाज में हिन्दु–मुस्लिम भाई–चारा (मित्रतापूर्ण व्यवहार, सौहार्द) इसका एक बेहतरीन नमूना है। हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक दूसरे के त्यौहारों, उत्सवों और दावतों में हमेशा शिरकत की है। एक दूसरे की धार्मिक संवेदनाओं का सम्मान करने की प्रवृत्ति को विकसित करने का सामाजिक तन्त्र विकसित करके ही यह संभव हो पाया है। इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए इसे व्यवहार में लगातार उतारा गया। यह व्यवहारीकरण आपस में एक दूसरे के यहां आने जाने और एक दूसरे के सुख–दुःख में शामिल होने के तौर पर प्रचलन में था और इस व्यवहारीकरण का दूसरा तरीका था एक दूसरे के सन्तों, फकीरों तथा पवित्र पुरुषों के प्रति मान–सम्मान की भावना रखना। इस प्रकार हिन्दु और मुस्लिम दोनों ही धार्मिक समुदायों के द्वारा एक दूसरे के सन्तों, पीरों के प्रति एक पवित्रतापूर्ण सम्मान की भावना का इजहार किया जाता रहा है और यही धार्मिक–सामाजिक परम्परा अन्य अल्पसंख्यक धार्मिक समुदायों– सिख, जैन, बौद्ध, इसाईयों आदि के साथ भी सह–अस्तित्व की बुनियादी समझ के तहत अपनायी जाती रही है। इतना सब रहते हुए भी, सहअस्तित्व में विश्वास और एकता के महत्वपूर्ण विचार, भाव को कुछ चुनिंदा मौकों पर ठेस पहुंचाई गयी है। फिर भी बहुलतावाद का भारतीय जीवन पद्धति में दिन–प्रतिदिन का व्यवहार, सांस्कृतिक एवं सामाजिक एकता का एक प्रमुख आधार बना हुआ है।

(द) आपसी निर्भरता की परम्परा :

भारत में पारस्परिक निर्भरता की एक सशक्त परम्परा रही है। इस पारस्परिक निर्भरता की परम्परा ने भिन्नतायें रखने वाले समुदायों को शताब्दियों से एकसूत्र में बांधकर रखा है। इसका आभास हमें भारतीय समाज में चली आ रही इस परम्परा से होता है जो

जजमानी के रूप में जानी जाती रही है। जजमानी प्रथा वास्तव में विभिन्न जातियों के बीच में कामों की पारस्परिक निर्भरता ही है। इस प्रथा में काम कराने वाली (मालिक) तथा सेवा प्रदान करने वाली (प्रजा)जातियों के आपसी सम्बन्ध व्यक्त होते हैं। यह सम्बन्ध परम्परागत रूप से श्रम उत्पादक परिवारों तथा उन परिवारों के बीच के सम्बन्ध का है जो अन्न उत्पादक परिवार हैं। श्रम उत्पादक परिवार अन्न उत्पादक परिवारों को सेवायें तथा आवश्यक उपयोगी वस्तुयें उपलब्ध कराते हैं। भारतीय ग्रामीण जीवन में जजमानी प्रथा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी क्योंकि यह प्रथा अनुष्ठान–कर्मकाण्ड (परम्परागत) के मामलों को अनिवार्य रूप से समाहित करती थी और साथ ही साथ यह सामाजिक सहयोग एवं आर्थिक लेन–देन में भी भूमिका अदा करती थी। यह जजमानी प्रथा, धर्म की सीमाओं से परे पारस्परिक निर्भरता के चलन के तौर पर पूरे भारतीय समाज में थी।

इसके अलावा हिन्दु और मुस्लिम दोनों समुदायों के समझदार और संवेदनशील अगुआकारों ने समय–समय पर इन दोनों समुदायों की मान्यताओं–परम्पराओं–तौर तरीकों को साझा बनाने का प्रयास किया है। इस तरह की कोशिशों का मकसद इन दोनों समुदायों को ज्यादा से ज्यादा करीब लाना था। इस तरह की कोशिशों की तमाम नजीरें भारतीय इतिहास में मौजूद हैं, जिसके उदाहरण हैंः दोनों धर्मों (हिन्दु व इस्लाम) की सबसे बेहतरीन तालीमों को मिलाकर, महान मुगल सम्राट अकबर ने एक नये धर्म 'दीन–ए–इलाही' की शुरूआत की। इसी प्रकार दारा शिकोह द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'मजमा–उल–बहरीन' (दो महासागरों का संगम) इस परम्परा के बेहतरीन दस्तावेजों में से हैं। इस पुस्तक में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच मौजूद समानताओं और उनके द्वारा धार्मिक आध्यात्मिक मान्यताओं–परम्पराओं के आपसी आदान–प्रदान का खूबसूरत वर्णन है। इस तरह की गतिविधियों के चलते रहने की धारा के सैद्धांतिक पक्ष के रूप में सूफी एवं भक्ति आंदोलन को रखा जा

सकता है। मोइन–उ–द्दीन चिश्ती, कबीर, एकनाथ, गुरू नानक और समकालीन दौर के महात्मा गांधी के द्वारा इस सिलसिले में किये गये योगदान महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसी प्रकार कला तथा वास्तुकला के क्षेत्रों में भी हम हिन्दु–मुस्लिम कलाओं के मिले जुले रूप को देख सकते हैं।

ऊपर वर्णित एकता के मूल स्रोतों–आधारों के परम्परागत रूपों का सम्मान और अनुशरण करते हुए आजादी मिलने के बाद भारतीय राज्य ने राष्ट्रीय एकता के लिए 'साझी संस्कृति' के मॉडल को ही अपनाया और इसीलिए 'एकरूपवादी सांस्कृतिक' मॉडल को नहीं स्वीकार किया। साझी संस्कृति का मॉडल, एकताबद्ध राष्ट्र के ढांचे के अंदर बहुलतावादी संस्कृति के संरक्षण तथा विकास का पूरा अवसर उपलब्ध कराता है। अतएव हमारी धर्मनिरपेक्षता की महत्वपूर्ण अवधारणा का मतलब है सभी धर्मों को एक समान मान–सम्मान और यही समझ हमारी राष्ट्रीय अखण्डता–राष्ट्रीय एकजुटता की नीति है।

(III) भारतीय इतिहास और भारतीय संस्कृति का विकास :

समकालीन भारत की जो सांस्कृतिक एकजुटता (भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक तत्वों को आत्मसात करके मजबूती के साथ अटूट बनाने का कार्य) दिख रही है वह भारत के इतिहास के अलग–अलग दौर में तमाम तरह की सामाजिक प्रक्रियाओं के चलाये जाने से इस तरह का आकार ले पायी है। 5000 साल पुरानी सिन्धु घाटी सभ्यता के समय से लेकर भारतीय समाज तमाम तरह के ऐतिहासिक दौर से गुजरता हुआ अपनी उस सांस्कृतिक अवस्था तक पहुंच पाया है, जो भारतीय संस्कृति आज के समकालीन भारतीय समाज में दिख रही है। भारत की सांस्कृतिक जटिलताओं की व्याख्या करने के लिए हम सामान्यतया भारतीय इतिहास को 7 काल खण्डों में बांट सकते हैं– (1) सिन्धु घाटी सभ्यता के समय के भारतीय (2) आर्य एवं द्रविड़ संस्कृति (3) मौर्य साम्राज्य एवं बौद्ध धर्म का विस्तार (4)

गुप्त कालीन भारत की सांस्कृतिक विरासत (5) तुर्क, मुगल और मुस्लिम संस्कृति का विकास (6) यूरोपीय वर्चस्व और उपनिवेशकालीन शासन (7) स्वतंत्र लोकतांत्रिक भारत के सांस्कृतिक तत्व।

(1) सिन्धु घाटी सभ्यता के समय के भारतीयः

यह बताना काफी अहमियत रखता है कि हड़प्पा एवं मोहन जोदाड़ो के लोगों की संस्कृति सबसे पुरानी संस्कृति है। वह संस्कृति जो एक बहुत ही विकसित रूप में सिन्धु घाटी (3250 ई. पू.–2000 ई.पू.) में दिखती है वह एक महान सभ्यता के मस्तक के रूप में है। भारत आज से लगभग 5000 वर्ष पूर्व जब से अपने अस्तित्व में आया है तभी से किसी न किसी रूप में एक विकसित सांस्कृतिक जीवन जीता रहा है। यह विकसित जीवन पद्धति कभी कभार थोड़ा बहुत कम या ज्यादा विकसित दिख सकती है। चीन के अलावा दुनिया का कोई अन्य ऐसा देश नहीं रहा है जो इतने लम्बे समय से बिना किसी ठहराव के अपनी सभ्यता को निरंतर गति देता रहा है। भारत–चीन की सभ्यतायें जब एक सीमा तक विकसित हो चुकी थीं तब दुनिया के बाकी हिस्से उसी समय में खानाबदोश की हालत में रह रहे थे। अपनी विकसित नगरीय योजना, पानी निकासी–नाली की व्यवस्था, कला की उन्नति, विज्ञान खासतौर पर इंजीनियरिंग और इसके साथ ही साथ कमोबेश अपनी समतावादी समाज दृष्टि के लिए सिन्धु घाटी सभ्यता मशहूर रही है। इस सभ्यता के जन्मदाताओं–निर्माताओं के बारे में लोगों की अलग–अलग राय है। कुछ लोग इसका श्रेय बाहर से आकर यहां बसने वाले आर्यों या सुमेरियन्स को देते हैं और कुछ इस श्रेणी में द्रविड़ों को रखते हैं। मगर अधिकांश विद्वान इस बात से सहमत हैं कि इसका श्रेय पुरानी 'ओस्ट्रिक' जाति (नस्ल) के लोगों को जाता है, जो भूमध्य सागरीय तट की तरफ से आने वाली नस्लों के साथ मिश्रित नस्ल के रूप में बदल गये थे। यह एक महत्वपूर्ण बिन्दु है कि अगर भारत की समकालीन संस्कृति को एक आकार–रूप–स्वरूप

देने में सिन्धु घाटी सभ्यता ने सीधे तौर पर कोई भूमिका नहीं निभायी है तो इसने द्रविड़ संस्कृति के माध्यम से अपरोक्ष रूप से समकालीन भारतीय संस्कृति के रूप–स्वरूप को निश्चित तौर पर प्रभावित किया है।

(2) आर्य एवं द्रविड़ संस्कृतिः

जिस समय, लगभग 2000 ई.पू. में, उत्तर–पश्चिम भारत में सिंधु घाटी सभ्यता को जंगली–हिंसक लुटेरे हमलावरों ने नष्ट कर दिया था उस समय दक्षिण भारत में द्रविड़–तमिल संस्कृति अपने विकास के उच्च स्तर पर पहुंच चुकी थी। पुरातत्व विज्ञान से जुड़े विद्वानों ने इस तथ्य को उजागर किया है कि एक लम्बी अवधि तक (2000 ई.पू.से 1000 ई.पू.) सिन्धु घाटी सभ्यता एवं दविड़–तमिल सभ्यता के बीच में वाणिज्यिक–व्यापारिक तथा सांस्कृतिक आदान–प्रदान होता रहा है। यह कहा जाता है कि आर्य एक खानाबदोश जनजाति का समूह था जो कि लम्बे कद, गोरे रंग तथा लम्बे बालों वाले थे। आर्य सिन्धु नदी के घाटी के क्षेत्र पंजाब में बस गये। आर्यों ने सिन्धु घाटी सभ्यता के लोगों से युद्ध किया। यह सिन्धु घाटी सभ्यता के लोग काले रंग के थे तथा 'दस्युत या द्रविड़' के नाम से जाने जाते थे। आर्यों की विजय की वजह से द्रविड़ उनकी अधीनता को बाध्य हुए और वहां से हटकर सुदूर दक्षिण भारत की तरफ पलायन कर गये। आर्य समाज एक संगठित समाज था तथा एक सामंत द्वारा शासित किया जाता था। यह वही लोग हैं जिनके ऊपर इस बात की जिम्मेदारी जाती है कि इन्होंने वेदों को प्रचलित किया तथा समाज को वर्ण–व्यवस्था के नाम से चार कोटियों–चार वर्णों–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में बांटा। वेदों को महत्ता दिलवाने और वैदिक संस्कृति भी आर्यों की देन है। वैदिक नियमों के अन्तर्गत हिन्दुधर्म की पवित्र (धार्मिक) क्रियाकलापों को न केवल टुकड़े–टुकड़े में बाँटा गया बल्कि इसमें ऊँच–नीच क्रम का निर्धारण भी कर दिया गया। धार्मिक विचारों तथा धर्म–दर्शन और दार्शनिक शोधों को जिनका सांस्कृतिक मामलों के साथ सीधा

सम्बन्ध, था बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ाया गया। वेद, उपनिषद और अत्यधिक लोकप्रिय महाकाव्य महाभारत एवं रामायण वैदिक–हिन्दू संस्कृति के उत्पाद हैं (1000 ई.पू. से 600 ई.पू.)। देश के दो भागों–दक्षिण में द्रविड़ संस्कृति और उत्तर–पश्चिम भारत में आर्यों की वैदिक संस्कृति, उन दिनों संस्कृति की दो धाराओं के तौर पर मौजूद भारत में थी। लेकिन एक दिन वह समय भी नजदीक आया जब इन दो संस्कृतियों के मिलन ने भारत की पहली राष्ट्रीय संस्कृति को जन्म दिया।

(3) मौर्य साम्राज्य एवं बौद्ध धर्म का विस्तारः

मौर्य साम्राज्य इस मामले में बेहतर था कि इस साम्राज्य को कई ऐसे महान शासक मिले जो सामाजिक स्तर पर एक महान दूर दृष्टि रखते थे। इस साम्राज्य के महानतम शासकों में सम्राट अशोक थे, जिन्होने अपना धर्मांतरण किया और बौद्ध धर्म अपनाया। सम्राट अशोक ने भारत के बाहर भी बौद्ध धर्म का प्रचार–प्रसार कराया। भारतीय समाज के महानतम सांस्कृतिक मूल्यों में से एक अहिंसा जिसे भारतीय समाज में महत्वपूर्ण स्थान एवं आदर प्राप्त था, का स्रोत बौद्ध धर्म ही है। अशोक कालीन भारत शैक्षणिक एवं बौद्धिक मामलों में भी बहुत आगे बढ़ा हुआ था। भारत का प्राचीन महान विश्वविद्यालय–नालंदा इसी काल में था। नालन्दा विश्व विद्यालय में पूरी दुनिया के विभिन्न हिस्सों से आकर 1000 से भी ज्यादा विद्यार्थी लगभग 60 विषयों का अध्ययन करते थे। नोबल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन ने अभी हाल में कहा कि नालन्दा वैज्ञानिक एवं बौद्धिक अध्ययन का एक महान केन्द्र था।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास की नजर ये यह दौर खासी अहमियत वाला था क्यों कि इस दौर में हिन्दु, बौद्ध और जैन धर्म आपस में इस बात के लिए संघर्षरत थे कि भारतीय संस्कृति पर कौन अपनी छाप छोड़ेगा। अन्ततः हिन्दु धर्म इस मामले में कामयाब रहा तथा बौद्ध धर्म को देश में दबा दिया गया। लेकिन

बौद्ध धर्म ने भारतीय जीवन और भारतीय जन मानस के मन–मस्तिष्क में अपनी अमिट छाप छोड़ी। अजन्ता और एलोरा की गुफायें भारतीय इतिहास के मौर्यकालीन समय का भारतीय संस्कृति को किया गया महत्वपूर्ण योगदान हैं। भारत का राष्ट्रीय प्रतीक चिन्ह अहिंसा तथा धर्म निरपेक्षता, राष्ट्रीय ध्वज पर बना शेर एवं चक्र का चिन्ह भी इसी काल का योगदान है।

(4) गुप्तकाल की सांस्कृतिक विरासतः

भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को स्वर्ण काल के रूप में जाना जाता है। बौद्धकालीन गठन के पराभव के बाद गुप्तकालीन समय में हिन्दु धर्म का पुनरूत्थान किया गया। इस काल की संगीत, भवन कला, पेंटिग्स आदि बहुत अच्च कोटि की थीं। शिक्षा, व्यापार एवं धार्मिक सहिष्णुता के मामले में भी गुप्तकाल महत्वपूर्ण था। भारत के सामाजिक सांस्कृतिक रंग पर वैदिक संस्कृति के महत्वपूर्ण प्रभाव के बाद गुप्तकाल में 'पुराणवादी हिन्दू संस्कृति' (सन् 200 ई. से सन् 700 ई. तक) ने भारत के सांस्कृतिक धरातल को बड़े पैमाने पर प्रभावित किया।

(5) तुर्क और मुगल तथा मुस्लिम संस्कृति का विकासः

भारत के इतिहास के मध्यकालीन दौर में भारत में विभिन्न संस्कृतियों का आगमन तथा फैलाव हुआ और यह विभिन्न संस्कृतियाँ भारत की साझी संस्कृति के निर्माण और विकास का महत्वपूर्ण आधार बनकर आगे के दौर में सामने आयीं। इनमें सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण संस्कृति थी मुस्लिम संस्कृति। यह सब राजनीतिक उद्देश्यों से भारत आने वाले तुर्कों और उसके बाद आने वाले मुगलों के आगमन से हुई। हालांकि तुर्क और मुगल दोनों राजनीतिक मकसदों से भारत आये थे परंतु वे अपने साथ जो सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्य लेकर आये थे वह धीरे–धीरे भारतीय संस्कृति का हिस्सा बनते चले गये। हालांकि यह कहना ठीक नहीं होगा कि भारत में इस्लाम और मुस्लिम संस्कृति का फैलाव केवल तुर्कों और मुगलों के आगमन से ही हुआ। दक्षिण

भारत में अरबों का व्यापारिक रिश्ता पैगंबर के समय के भी पहले से रहा है।

आगे चलकर भारत के साथ पश्चिमी एशिया के इस व्यापारिक रिश्तों के नाते, जो खासतौर पर मालाबार एवं कोरोमण्डल समुद्री तटीय इलाकों पर विकसित हुए थे, मुसलमानों की बसाहट तथा मुस्लिम संस्कृति का फैलाव हुआ। इस प्रकार उस दौर में मुस्लिम संस्कृति का जो प्रभाव था वह भारत के पश्चिमी और दक्षिणी इलाके के कुछ हिस्सों तक ही सीमित था। उत्तरी भारत में मुसलिम तुर्कों के हमले 10वीं शताब्दी से आरंभ हुए और 13वीं शताब्दी के शुरूआती सालों तक तब तक जारी रहे जब तक कि दिल्ली सल्तनत की स्थापना नहीं हो गयी। इस लम्बे दौर के मुस्लिम तुर्कों के हमले तथा दिल्ली सल्तनत के गठन की पृष्ठभूमि में मुस्लिम संस्कृति ने भारतीय समाज के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को बहुत गहराई तक सीधे तौर पर प्रभावित किया। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि मुस्लिम संस्कृति का आधार इस्लाम है। इस्लाम और मुस्लिम संस्कृति ने सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के जरिए दक्षिण एशिया एवं भारतीय समाज में साझी संस्कृति को एक सांस्कृतिक आकार दिया है और आज भी यह कार्य करता आ रहा है। यह भी काफी अहम बात है कि मुस्लिम आबादी की तादाद के आधार पर भारत दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा देश है।

केन्द्रीय एशिया से आकर भारत पर हमला करके तुर्कों ने भारत पर सन् 1175 ई. से 1340 ई. तक शासन किया। इस समय के निर्मित भवन, स्मारक, ऐतिहासिक स्थल जिनके अवशेष अभी भी उत्तरी भारत में मौजूद हैं, भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति के धरोहर हैं। वर्ष 1526 ई. में मुगलों के हमले के बाद तुर्कों का वर्चस्व समाप्त हो गया। पहला मुगल आक्रमणकारी बाबर था। बाबर के उत्तराधिकारियों में अकबर और शाहजहां का नाम भारतीय इतिहास में खास अहमियत रखता है। धर्म और विश्वास के आधार पर हिन्दू–मुस्लिम संस्कृतियों की एकता का अकबर का रूझान सर्वविदित है। शाहजहां एक ऐसा बादशाह था जिसने

भारत में विशाल और अद्‌भुत स्मारकों, भवनों का निर्माण कराया जो कि वास्तुकला के अद्‌भुत नमूने हैं। दुनिया के महत्वपूर्ण अजूबों में से एक ताजमहल का निर्माण भी शाहजहां ने अपनी प्यारी बेगम मुमताज महल की याद में कराया था। भवन निर्माण, वास्तुकला के नमूनों और दस्तकारी के नायाब योगदानों के साथ ही साथ मुगलों ने भारत में अपनी हुकूमत, जो सन् 1857 ई. तक कायम रही, के दरम्यान एक हिन्दुस्तानी तहजीब/संस्कृति विकसित की जो अपनी संगीत, साहित्य, कला और अन्य उपलब्धियों पर आज भी गर्व करती है। भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति में इस्लामी तत्वों की मौजूदगी और भारत में साझी संस्कृति के नायाब माडल को विकसित करने तथा विस्तार देने में मध्यकालीन युग का कभी न भुलाये जा सकने वाला योगदान रहा है।

(6) यूरोपीय वर्चस्व और औपनिवेशिक राजः

यूरोप के लोगों का भारत में आगमन बहुत पहले वर्ष 1498 ई. में आरम्भ हुआ जब पुर्तगाल से वास्को–डिगामा केरल राज्य के कालीकट नामक स्थान पर पहुँचा। व्यापार और राजनीति तथा उत्पीड़न के इरादे से पुर्तगालियों का वर्चस्व भारत के एक बहुत ही सीमित क्षेत्र पर कायम हुआ। अन्य यूरोपीय लोग डच एवं फ्रेंच भी भारत में इसके बाद आये और इन यूरोपीय लोगों ने भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों पर अपनी छाप छोड़ी। आगे के दौर में अंग्रेज भी भारत आये और उन्होंने अपने 150 साल के औपनिवेशिक शासन के जरिये भारतीय समाज को और भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया तथा अपनी गहरी छाप छोड़ी। भारत के प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक मामलों में हस्तक्षेप करते हुए ब्रिटिश कालीन भारत के समय अंग्रेजों ने भारतीय समाज के पाश्चात्यीकरण की शुरूआती प्रक्रिया आरंभ कर दी थी। आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति के ढर्रे लिए भारत अंग्रेजों का आभारी है। यह परस्पर विरोधी तथ्य है कि एक तरफ तो अंग्रेज भारतीय राष्ट्र के औपनिवेशिक मुक्ति के विरोधी थे अर्थात् भारतीय राष्ट्र

को अपना उपनिवेश (गुलाम) बनाये रखना चाहते थे परंतु वहीं दूसरी तरफ वे भारत में राष्ट्रीय भावनाओं को विकसित करने में भी अपना योगदान कर रहे थे। एक राष्ट्र के रूप में भारत के एकीकरण में भी ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने अपनी भूमिका निभायी परंतु यही एकमात्र कारण नहीं था जिसकी वजह से भारत की एकता सुनिश्चित हो पायी।

(7) स्वतंत्र एवं लोकतांत्रिक भारत के सांस्कृतिक तत्वः

वर्ष 1947 में आजादी हासिल करने के बाद भारत ने अपने आपको मजबूत बनाया और बड़ी मजबूती के साथ अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को स्वंय विकसित करना आरंभ किया। स्वतंत्र भारत ने अपना ध्यान सबसे ज्यादा इस बात पर केन्द्रित किया कि भारत की सांस्कृतिक विभिन्नता को कैसे बनाये रखा जाय और नव–स्वतंत्र भारतीय राष्ट्र की एकता और सम्प्रभुता को कैसे सुदृढ़ किया जाय। आज के समकालीन दौर में भारत के मुख्य सरोकारों को इस प्रकार सूचीबद्ध किया जा सकता है : धर्म निरपेक्षता, लोकतंत्र, विभिन्न धर्मों और विश्वासों (पंथों) संस्कृतियों एवं नस्लीय समूहों का समान तथा सहज सह अस्तित्व। अपने आप में भिन्न–भिन्न संस्कृतियों को समेटे हुए तथा इन सांस्कृतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी अपनी राष्ट्रीय पहचान के आधार पर एकजुट भारत, आज दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है।

(IV) प्रमुख भारतीय चिंतक और दार्शनिक दृष्टि :

जिस प्रकार जीवन के तमाम क्षेत्रों में भारतीय समाज में अनेकतायें मौजूद हैं उसी प्रकार भारत में भिन्न दार्शनिक सिद्धांत और सामाजिक–सांस्कृतिक विचार अस्तित्व में रहे हैं। भारत में वैचारिक विभिन्नताओं की शुरूआत वैदिककाल से ही हो जाती है। वेदों, उपनिषदों और पुराणों, शास्त्रों एवं सूत्रों ने भारतीय समाज को दिशा दिया कि वे विचार तथा व्यवहार के स्तर पर अपने स्वंय के द्वारा विकसित सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन

का पालन करें। मनु द्वारा रचित धर्मशास्त्र भारतीय जीवन में बहुत प्रभावकारी रहा है और आज भी उसका प्रभाव भारतीय जीवन पद्धति और भारतीय संस्कृति पर देखा जा सकता है। अतएव जाति व्यवस्था को भारतीय समाज में धार्मिक मान्यता भी मिली क्योंकि इसकी व्यवस्था मनु के धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) में है। भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति की जड़ें वैदिक संस्कृति में हैं। बौद्ध दर्शन द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का सिद्धांत, भारत में विकसित होने वाले सिद्धांतों में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण तथा प्रभावकारी है। मध्यकालीन भारतीय युग में एक ही समय में अस्तित्व में आने वाले सूफी और भक्ति के दर्शनों (विचारों–सिद्धांतों) जो भारतीय जन मानस में शीघ्र ही बहुत ज्यादा लोकप्रिय हो गये थे, ने धार्मिक शुद्धता के नाम पर श्रेणी बद्धता (ऊँच–नीच का क्रम निर्धारण करना) तथा भेदभाव पर सवाल खड़े किये।

स्वामी विवेकानन्द की व्यावहारिकता वाली आध्यात्मिक दृष्टि (जिसने लोगों को समाज सेवा के लिए प्रेरित किया), अरविन्द की वैश्विक आध्यात्मिकता, रवीन्द्र नाथ टैगोर का उच्चकोटि का वैश्विक दर्शन, मोहम्मद इकबाल का विश्ववाद का दर्शन जिसकी जड़ें इस्लाम के बुनियादी सिद्धांतों पर टिकी हैं और मौलाना अब्दुल कलाम आजाद द्वारा इस्लाम की शिक्षाओं से प्रेरणा लेकर राष्ट्रीय भावनाओं पर आधारित विचार–आदि भारत के सांस्कृतिक इतिहास के उल्लेखनीय बौद्धिक, वैचारिक तथा दार्शनिक योगदान हैं। इसके साथ ही साथ और इसके अलावा महात्मा गांधी के अहिंसा, आध्यात्मिक (नैतिक) राजनीति और स्वदेशी के विचार पं. जवाहर लाल नेहरू की धर्म निरपेक्षता के आदर्शों वाले भारत की खोज की बौद्धिक महत्वाकांक्षा और बाबा साहेब बी.आर. अम्बेडकर की सामाजिक न्याय के लिए छटपटाहट – आदि आधुनिक भारत के इतिहास के सर्वोच्च विचारों की कोटि में आते हैं।

(v) समकालीन भारतीय संस्कृति : चुनौतियाँ एवं सरोकार :

हालांकि भारत की एकता की तमाम नजीरें हमारे इतिहास में दर्ज

हैं साथ ही साथ भारतीय संस्कृति में एकता के तमाम सूत्र/आधार भी मौजूद हैं, लेकिन इससे यह मतलब नहीं निकाला जाना चाहिए कि हम राष्ट्रीय एकता के रास्ते पर आसानी से बढ़ पाये हैं या बढ़ते रहे हैं और किसी प्रकार की जातिवादी उत्पीड़न, साम्प्रदायिक या भाषायी ढंगों का हमें समाना नहीं करना पड़ा है। न तो यही समझना चाहिए कि बंटवारा करने वाली तथा संकीर्णता की प्रवृत्तियाँ अब हमारे समाज में गैरहाजिर हो चुकी हैं। देश के अन्दर समय दर समय दंगे होते रहे हैं और कभी–कभी तो काफी खतरनाक तथा बड़े बड़े दंगे भी हुए हैं। उदाहरण के तौर पर दिल्ली में सिखों के कत्लेआम या गुजरात में मुसलमानों के जन संहार को कौन भुला सकता? और अयोध्या में बाबरी मस्जिद (1992) का विध्वंस भारतीय धर्म निरपेक्ष संस्कृति पर एक काला धब्बा है। भारत के तमाम समाज शास्त्रियों ने भारतीय बहुलतावादी संस्कृति के लिए साम्प्रदायिकता और एकरूपता कायम करने की सोच (भिन्नताओं को खत्म करते हुए उनमें पारस्परिक एकता कायम करने के बजाय भिन्नताओं को खत्म करके उसे एक रूपता देने की सोच) को एक गंभीर खतरे के रूप में चिन्हित किया है। भारत में कायम धर्म निरपेक्षता, धर्म निरपेक्षता का वह रूप है जो सभी धर्मों, संस्कृतियों को स्थान और अवसर उपलब्ध कराता है और सार्वजनिक जीवन में सह अस्तित्व को अहमियत देता है। यही भारतीय धर्म निरपेक्षता की बुनियादी समझ भारत में बहुलतावादी संस्कृति की गारण्टी दे सकती है। भारत में धर्म निरपेक्षता का मतलब अधार्मिकता या नास्तिकता नहीं है और न हि भौतिक सुविधाओं पर बहुत ज्यादा जोर देने से है। भारतीय सांस्कृतिक संदर्भों में धर्मनिरपेक्षता सार्वभौमिक आध्यात्मिक मूल्यों पर जोर देती है तथा यह मानती है कि इन तक पहुंचने के बहुत से तथा अलग–अलग रास्ते हो सकते हैं। साझी–संस्कृति तथा बहुलतावादी परम्पराओं के लिए भारतीय संस्कृति हमेशा से ही एक उपजाऊ जमीन के तौर पर रही है। अनुभवी एवं समझदार भारतीय सांस्कृतिक मानसिकता ने अपनी बहुलतावादी सांस्कृतिक परम्परा और विरासत की हिफाजत की लगातार कोशिशें जारी

रखी हैं।

स्वाधीनता, समानता और भाईचारे को महत्वपूर्ण मानते हुए भारतीय संविधान बड़ी ही मजबूती से एक धर्म निरपेक्ष–लोकतंत्र के सिद्धांत पर जोर देता है। यही धर्म निरपेक्ष–लोकतंत्र भारत की बहुलतावादी साझी संस्कृति के सामने खड़े खतरों से इसका बचाव करता है और यही भविष्य के भारत जो एक बहुलतावादी समाज ही होगा को सुनिश्चित करने का वादा करता है।

5

धार्मिक एवं सांस्कृतिक विविधता

धार्मिक एवं सांस्कृतिक विविधता सहज रूप से इस बात को मान्यता प्रदान करती है कि एक समाज में भिन्न–भिन्न जातीयताओं, धार्मिक या सांस्कृतिक समूह के लोग साथ–साथ एक राष्ट्र में सहअस्तित्व रखते हैं। आरनाल्ड टानबी व्याख्या करते हुए अपना विचार व्यक्त करते हैं– ''सभ्यता चुनौतियों एवं उसकी प्रतिक्रिया के बीच एक–दूसरे को प्रभावित करने का ढर्रा रहा है। यह चुनौतियां विभिन्न दिशाओं से आ सकती हैं जैसे पर्यावरण या सामाजिक और सांस्कृतिक तनाव''। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू अपनी पुस्तक ''द डिसकवरी ऑफ इण्डिया'' में लिखते हैं कि एकता कोई ऐसी बात नहीं है जो बाहर से थोपी गयी हो बल्कि काफी हद तक ''यह इससे ज्यादा गहरी थी और इसके दायरे में अलग–अलग विश्वासों (भिन्न धार्मिक आस्थाओं) और अलग–अलग रीति–रिवाजों के प्रति अति उत्साहित सहिष्णुता व्यावहारिक रूप में मौजूद थी और हर प्रकार की विभिन्नता को सहज स्वीकृति प्राप्त थी एवं उसे प्रोत्साहित किया जाता था।'' यह नेहरू ही थे जिन्होंने इस नये मुहावरे 'विभिन्नता में एकता' का सृजन भारत को व्याख्यायित करने के लिए किया। भारत का लोकतांत्रिक एंव धर्म निरपेक्ष गणराज्य ''बहुलतावाद के राष्ट्रीय विश्वास के विचार तथा तर्क पर आधारित हैं''। इस उप–महाद्वीप के लम्बे एवं विविधता से भरे हुए इतिहास ने इसे हमेशा शक्ति पैदा करने वाली ऊर्जा प्रदान की है तथा असली विचारों (दर्शन) को महत्व दिया है।

भारतीय संस्कृति की विविधता केवल देश की जातीय या नस्लीय संरचना पर ही आधारित नहीं है बल्कि यह जीवन के हर एक हिस्से

पर दिखाई पड़ती है, जिसमें भौगोलिक स्थितियों, मौसम की हालात और क्षेत्रीय तथा अन्तर क्षेत्रीय व्यापक भिन्नतायें, धर्म, रीति रिवाज, परम्परायें, भाषा, खाने की आदतें, पहनावा, कला और संगीत आदि शामिल हैं। एम.सी. छागला के शब्दो में ''भारतीयता एवं भारतीय चरित्र का विकास अनेक नस्लों और अनेक समुदायों जो भारत में शताब्दियों तक रहे, के बीच आपस में एक दूसरे को प्रभावित करने या प्रभावित होने (आपस में विचारों–अनुभवों के आदान–प्रदान) एवं आपसी पारम्परिक व्यवहार से हुआ है।'' वे आगे कहते हैं लेकिन ''भारत में (सदैव से) एक भारतीय परम्परा रही है, जो ऐसे छोटे–छोटे मतभेदों जो इस तरह प्रतीत होते हैं कि वे एकता को खण्डित कर सकते हैं; के ऊपर हमेशा भारी पड़ी है।'' उनका विश्वास है कि इसी भारतीय परम्परा ने भारत को एकजुट रखा है।

शताब्दियों से भारतीय उप–महाद्वीप में विदेशी आते रहे हैं और यहां पर बसते–निवास करते रहे हैं। इसी क्रम में धीरे धीरे करके युनानी और शक, पारसी और आर्य, कुषाण, हूण, अरब, तुर्क, मुगल और युरोपीय लोग भारत में स्थायी रूप से बस गये। ये लोग अपने साथ अपने धर्म, मान्यताओं, परम्पराओं और संस्कृतियों को भी लाये। यहूदी, जोरोस्ट्रियन, इस्लाम और ईसाई धर्म भारत में पहुँचे। विदेशियों का बिना किसी बाधा के भारत में शताब्दियों तक आना जारी रहा, जिससे भारतीय समाज बहु विविधता तथा तमाम अलग–अलग रंगों की वजह से रंग–बिरंगा होता गया। लोगों एवं उनके विचारों को अपने में सम्मिलित करने एवं उसका मिश्रित रूप बनने की प्रक्रिया एक लम्बे समय तक विस्तृत होती रही, फैलती रही। भारतीय संस्कृति की विविधता केवल देश की जातीय या नस्लीय संरचना में ही मौजूद नहीं है बल्कि यह जीवन के हर एक हिस्से पर दिखती है, जिसमें भौगोलिक स्थितियों, मौसम की हालात और क्षेत्रीय तथा अन्तर क्षेत्रीय व्यापक भिन्नतायें, धर्म, रीति रिवाज, परम्पराओं, भाषा, खाने की आदतें, वस्त्र–परिधान–पहनावा, कला और संगीत आदि शामिल है। सांस्कृतिक एवं धार्मिक विविधता के बावजूद भी देशवासी एकजुट हैं और इनका भारतीय राष्ट्र में अत्यधिक विश्वास है। इसी वजह से देशवासियों ने जब कभी कोई बाहरी

संकट खड़ा हुआ है अपनी एकजुटता का इजहार किया है।

इस प्रकार भारत सच्चे मायने में एक बहु–जातीयताओं, बहु–भाषायी और बहु–धार्मिकताओं वाला समाज बन गया है। भारतीय समाज में कायम साझी मूल्य–प्रणाली, जहां बहु–संस्कृतिवाद एक स्वीकार्य तथ्य है और इसे शांति एंव भाईचारा बरकरार रखने हेतु राज्य द्वारा प्रोन्नत किया जाता रहा है, देशवासियों को एकजुट रहने को बाध्य करता है। एक साथ एकजुट होकर रहने की सामाजिक अवस्था को यह प्रोत्साहित करता है और इसके वास्ते समाज में अलग–अलग समूहों को मान्य करता है और इन समूहों को इस बात की इज़ाज़त देता कि वे अपनी संस्कृति–उत्सवों को बरकरार रख सकें तथा अपनी संस्कृति एवं धर्म की पहचान को कायम रख सकें। भारतीय उप–महाद्वीप के बहुलतावादी एवं लम्बे इतिहास ने इसे एक मजबूत ताकत के जरिये के रूप में स्वीकार किया है और इसने देश की एकता एवं अखण्डता को बनाये रखने में जबर्दस्त मदद की है।

पूरी दुनिया में भारत एक अत्यधिक धार्मिक विविधता वाला देश है। यहां पर एक अरब से भी अधिक लोग जो अलग–अलग धर्मों में विश्वास करते हैं भाई चारे और आपसी मेल–मिलाप के साथ रहते हैं। यहां पर लोगों के जीवन में धर्म की केन्द्रीय भूमिका है। इसे एक ऐसे आदर्श के रूप में प्रायः सम्मानित किया जाता हैं जहां एक ही देश के अन्दर धार्मिक और भाषायी सह–अस्तित्व और आपसी मेल–जोल है। भारत की युगों पुरानी दार्शनिक समझ जैसा कि हिन्दु धर्म ग्रन्थों में उद्घोषित किया गया है वह हैं–''सर्व धर्म समभाव'', जिसका मतलब है सभी धर्मों के लिए समान सम्मान। इससे अन्य धर्मों के प्रति इसकी सहनशीलता का पता लगता है और इससे यह भी पता लगता है कि भारत पर कभी किसी एक धर्म का वर्चस्व नहीं रहा है। ईसाइत तथा इस्लाम ने मौजूदा परम्पराओं में कई धार्मिक परम्पराओं को जोड़ा। अशोक एवं अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति की वजह से यहां पर प्राचीन एवं मध्यकालीन दौर में धर्मों के बीच में सहिष्णुता की परम्परा रही है। इन दोनों महान राजाओं ने भारत के धार्मिक जीवन में उच्चकोटि

का उल्लेखनीय योगदान किया। इसके अलावा भारत में इस्लाम एवं हिन्दू धर्म में सूफी एवं भक्ति परम्परायें थीं जो दूसरे धर्मों को भी सम्मान की निगाह से देखती थीं। सूफी एवं भक्ति संत दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता तथा सहनशीलता से ओत–प्रोत थे। धार्मिक सीमाओं से परे देश की आबादी का एक बडा हिस्सा इन परम्पराओं से बहुत ज्यादा प्रभावित था और इससे साझी संस्कृति के विकास में काफी मदद मिली।

भारत में हिन्दु धर्म को मानने वालों की आबादी सबसे ज्यादा है और देश की कुल आबादी का 80 फीसदी हिस्सा ऐसे ही लोगों का है। हिन्दु धर्म को मानने वाले लोग अधिकतर सहनशील हैं और विविधता को मानने के इच्छुक हैं। हिन्दु धर्म को मानने वाले लोग अनेक जातियों में बंटे हुए हैं और हिन्दु धर्म ठोस रूप में एकरूप नहीं है। ये लोग अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराओं को मानते हैं और अलग–अलग भाषा बोलते हैं। इसके साथ ही साथ तमाम विदेशी तथा आक्रमणकारी जो यहां आये, उन्होंने इसे अपने घर के रूप में स्वीकारा और यहीं के होकर रह गये, ऐसे लोग भी अपने साथ अपनी संस्कृति तथा धर्म लेकर आये थे। आदिवासियों एवं द्रविड़ों को भारत का मूलवासी माना जाता है। आर्य केन्द्रीय एशिया से आकर यहां बसने वाले पहले लोग थे। वे अपने साथ अपनी संस्कृति तथा धार्मिक विधानों को ले आये। आर्य उनमें से पहले थे जिन्होंने शांति एवं भाईचारा बरकरार रखने के लिए स्थानीय (भारतीय) रीति–रिवाजों एवं परम्पराओं में से कुछ को अपना लिया और भारत में साझी संस्कृति की शुरूआत की। इसे विकसित किया।

आगे चलकर शक, हूण तथा युनानियों ने भी भारत पर अपनी छाप छोड़ी। अनेक मुस्लिम वंशों के भारत पर आक्रमण और खासतौर पर सल्तनत काल एवं मुगलकालीन काल में, इस्लाम भारत में फैलता गया। तुर्कों, तुगलकों, खिलजियों तथा मुगलों ने भारतीय संस्कृति को बहुत गहरे तक प्रभावित किया। इस देश के लोगों को फारसी में खासा असर रखने वाली उदार इस्लामिक संस्कृति ने बहुत प्रभावित

किया। मुस्लिम शासको ने इस देश में फारसी भाषा को दरबार की भाषा बनाया, जो कि समाज के उच्च वर्गों के बीच तो लोकप्रिय हुई परंतु इसने अन्य भारतीय भाषाओं पर अर्थपूर्ण प्रभाव डाला। आबादी के एक बहुत बड़े हिस्से ने स्थानीय भाषा में ही संवाद करने को प्राथमिकता दी। फलतः उर्दू भाषा इसी दौर में पैदा हुई। इस भाषा का जन्म बाजार में हुआ इसमें विभिन्न समुदायों–तुर्क, मुगल, हिन्दू, स्थानीय मुस्लिम और अन्य ने अपनी भूमिका अदा की। वास्तव में बुनियादी तौर पर उर्दू भाषा तमाम भारतीय स्थानीय बोलियों–ब्रज, अवधी, हरियाणवी, मराठी और तुर्क, फारसी, अरबी और संस्कृत तथा अन्य भाषाओं को मिलाकर बनी है। हिन्दू त्यौहार जैसे होली, दशहरा, और दीवाली के साथ ही साथ नवरोज सरीखे त्यौहार मुगल दरबार में तथा आधिकारिक तौर पर बड़ी धूम–धाम से मनाये जाते थे। हिन्दु महाकाव्यों रामायण एवं महाभारत का अनुवाद फारसी एंव अरबी भाषा में किया गया। साम्प्रदायिक एवं कुनबापरस्ती के तनाव तब आरम्भ हुए जब मुस्लिम शासकों ने अपने धार्मिक एजेण्डे को थोपने का प्रयास किया। यह समस्या तब और ज्यादा भयानक हो गयी जब भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना की गयी और इस राज ने 'बांटो और राज करो' की नीति को अपना लिया।

'बांटो और राज करो' की नीति को तब ज्यादा महत्व मिला जब औपनिवेशिक शासकों (अंग्रेज) ने भारत के बड़े भू–भाग पर अपना नियंत्रण बरकरार रखने के लिए लोगों को बांटने की योजना पर काम करना शुरू किया और लोगों को धर्म, भाषा, नस्ल एवं जाति के नाम पर बांटना शुरू कर दिया। ब्रिटिश राज कालीन भारत में इस नीति का इस्तेमाल ब्रिटिश शासकों ने ब्रिटिश राज के खिलाफ उभर रहे जन–उभार को रोकने के लिए किया। भारत का बंटवारा इसी नीति की तार्किक परिणति थी। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासक इस उप महाद्वीप में अपना शासन लगभग दो शताब्दियों तक कायम रख सके। वर्ष 1835 ई. में टामस मैकाले ने ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के उद्देश्य को सलीके से स्पष्ट करते हुए कहा कि–
''मैं भारत की चारों दिशाओं में गया, यात्राओं की, इस दौरान मैंने किसी को भी भीख मांगते नहीं देखा, कोई चोर नहीं देखा। इस देश

में मैंने अपार सम्पत्ति देखी, उच्चकोटि की नैतिकता देखी और मैंने यहां के लोगों में जो गुण और क्षमतायें देखी हैं उसके आधार पर मैं यह सोचता हूँ कि हम इस देश को कभी जीत नहीं सकते। इस देश को तभी जीता जा सकता है कि भारत की पुरानी तथा प्राचीन शिक्षा प्रणाली के स्थान पर नयी शिक्षा प्रणाली लायी जाय तथा इसकी संस्कृति को भी बदल दिया जाय जिससे कि भारतीय यह सोचें कि जो कुछ भी विदेशी तथा ब्रिटिश है वह अच्छा है तथा उनकी अपनी चीजों से ज्यादा महान है। इससे भारतीयों के बीच आत्म विश्वास समाप्त होगा, अपने स्वयं की संस्कृति के प्रति अटूट विश्वास खत्म होगा और वे वही बन जायेंगे जो हम चाहते हैं अर्थात एक अधीनस्थ राष्ट्र।''

आर्थिक एवं राजनीतिक प्रतिस्पर्धाओं ने भी हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच पंथ या मजहब के आधार पर संकीर्णताओं को बढ़ाने में योगदान किया। ''हिन्दू अभिजात वर्ग ने नयी हकीकतों को जल्दी ही कुबूल कर लिया और उसके साथ तालमेल बैठाते हुए आधुनिक शिक्षा, वाणिज्य और उद्योगों की तरफ बढ़े।'' जबकि वहीं पर दूसरी तरफ रूढ़िवादी उलेमाओं और मौलवियों के प्रभाव में मुसलमानों ने नयी धर्म निरपेक्ष शिक्षा का विरोध किया और वे वाणिज्य तथा उद्योगों की दुनिया में बहुत पीछे रह गये। शुरूआती तौर पर हिन्दु और मुस्लिम अभिजात वर्ग ने आपस मे ंएक दूसरे से सहयोग किया लेकिन आर्थिक एवं राजनीतिक ढ़ांचे के प्रतियोगी चरित्र जो ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने विकसित किया था, ने दोनों के बीच एकता तोड़ने की भूमिका अदा की और आगे चलकर संकीर्ण तथा मजहबी आधार पर तनाव पैदा होने की बातें सामने आने लगीं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने वर्ष 1885 ई. में भारतीय समाज की बहु धार्मिक विशेषता एवं धर्म निरपेक्षता की परम्परा की भारत में पुनः स्थापित करने के एजेण्डे को आत्मसात किया। शुरू में दोनों–हिन्दु एवं मुसलमानों ने कांग्रेस की इस अपील को सकारात्मक रूप में लिया और दोनों ने मिल–जुलकर जंग–ए–आजादी के लिए लड़ाइयां लड़ीं परंतु आगे चलकर इस मसले पर मुसलमानों में

आपस में एका कायम न रह सका। मुसलमानों का एक तबका मुस्लिम लीग की अगुवाई में मुसलमानों के लिए अलग देश की मांग करने लगा। यहां यह बताना खास अहमियत रखता है कि भारत के उलेमाओं–मौलवियों के संगठन जमीयत उलेमा–ए–हिंद ने भारत के बंटवारे तथा पाकिस्तान बनाये जाने की योजना की मुख़ालफ़त की थी। यहां तक कि देश के बंटवारे के बाद भारत के मुसलमानों की बहुसंख्या भारत में ही रूकी रही पाकिस्तान नहीं गयी, इसकी वजह थी भारत में शताब्दियों से अलग–अलग धार्मिक समुदायों का शांतिपूर्ण सहअस्तित्व बने रहना। इसकी दूसरी वजह थी आजादी की लड़ाई का धर्मनिरपेक्ष तथा लोकतांत्रिक चरित्र जो कांग्रेस पार्टी की अगुवाई में चली और जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू और मौलाना अब्दुल कलाम आजाद जैसे लीडर कर रहे थे। भारत की विविधता हमेशा ही एक बुनियादी ताकत के रूप में स्वीकार की जाती रही है आजादी की लड़ाई के दरमियान यह साफ–साफ दिरवायी भी पड़ी जब विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों के मानने वाले तथा विभिन्न क्षेत्रों के लोग ब्रिटिश–राज का विरोध करने हेतु एक साथ आये, खड़े हुए और लड़े। ''उन्होंने साथ–साथ काम किया साझी कार्यवाहियों को तय करने के लिए, वे साथ–साथ जेल गये और उन्होंने (ब्रिटिश राज के) विरोध के तमाम रास्तों को ढूँढ़ा।''

आधुनिक भारत के धर्म आधारित इतिहास बनाने में साम्प्रदायिकता ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। पाकिस्तान की स्थापना के लिए चले आन्दोलन ने धर्म के आधार पर लोगों को बांट डाला और तब से साम्प्रदायिक तनाव एवं धर्म–आधारित राजनीति को प्रमुखता मिलने लगी। औपनिवेशिक शासन (ब्रिटिश–राज) का खात्मा भारत के बँटवारे के साथ हुआ। यह बँटवारा धार्मिक आधार पर हुआ और दो देश बनाये गये–मुस्लिम बहुसंख्या के प्रभुत्व वाला पाकिस्तान और हिन्दू बहुसंख्यक भारतीय गणराज्य। वर्ष 1947 में हुए भारत के बँटवारें ने ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कीं कि हिन्दुओं, मुसलमानों तथा सिखों के बीच में साम्प्रदायिक दंगे हुए और इस दंगाई हिंसा में 500,000 लोग मारे गये। 120 लाख शरणार्थी नव निर्मित राष्ट्रों–भारत और पाकिस्तान की तरफ अपने–अपने घर–द्वार

छोड़कर गये। आधुनिक इतिहास में यह सबसे बड़ा सामूहिक विस्थापन या सामूहिक पलायन था। इतना सब होने के बावजूद भी मुसलमानों की एक बड़ी आबादी ने भारत में ही रूके रहने का निर्णय लिया और ''उनके मन में यह जानने की भी उत्सुकता थी कि एक हिन्दु बहुसंख्यक समाज में अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय का क्या भविष्य होगा?'' नेहरू के नेतृत्व में बनी स्वतंत्र भारत की नयी सरकार के समक्ष इस तरह की समस्याओं से निपटना एक महत्वपूर्ण कार्य था और नेहरू ने भारत में रहने वाले विभिन्न धर्म के मानने वालों को समानता दिये जाने का वादा किया।

भारतीय गणराज्य की स्थापना के बाद स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं ने निर्णय लिया कि भारत धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक राजनीति को स्वीकार करेगा और बहु संस्कृतिवाद को प्रोत्साहित करेगा जिससे कि एकता एवं साम्प्रदायिक भाई–चारे को कायम रखा जा सके। यह सांस्कृतिक विविधता की हकीकत को स्वीकार करता है, मान्यता प्रदान करता है लेकिन यह भी कहता है कि इस तरह की विभिन्नता का आदर किया जायेगा और इसे सार्वजनिक रूप से दृढ़तापूर्वक घोषित किया जायेगा। यह सब एक धर्म निरपेक्ष व्यवस्था में ही संभव है अतः नेहरू ने धर्मनिरपेक्षता की सोच पर बार–बार जोर दिया। नेहरू की धर्मनिरपेक्षता की समझ युरोपीय समझ से अलग थी। यह तय पाया गया कि 'भारतीय राज्य' का कोई आधिकारिक धर्म नहीं होगा परन्तु भारत के नागरिकों को जन्म के आधार पर या अपनाने के आधार पर किसी भी धर्म को मानने–अपनाने का हक होगा। इस प्रकार भारत एक धर्म निरपेक्ष देश होगा और उसके नागरिक धार्मिक बने रह सकेंगे। स्वतंत्रता संग्राम के समय से ही मुख्य अन्तर्विरोध 'धर्म निरपेक्षता और धार्मिकता' में नहीं था बल्कि यह मतभेद ''धर्म निरपेक्षता और साम्प्रदायिकता'' के बीच था। धर्म के नाम पर सियासत करने वाली तंग नज़र ताकतें जो ब्रिटिश राज के दरम्यान पैदा हुई थीं आजादी मिलने के बाद भी खत्म नहीं हुई बल्कि सत्ता में हिस्सेदारी की खातिर वे सत्ता हासिल करने की लड़ाई में अपने–अपने धर्मों का इस्तेमाल करने लगीं। भारत में धर्म निरपेक्षता का मतलब है सभी धर्मों संस्कृतियों को एक समान स्थान और

इज्जत और धर्म का सरकारी काम काज में दखलंदाजी न होना। भारत में लोगों का बहुत बड़ा हिस्सा धार्मिक है लेकिन सहनशील भी हैं, वे दूसरे धर्मों की भी इज्जत करते हैं और वे भारतीय संदर्भो में धर्मनिरपेक्ष हैं।

भारत की धार्मिक विविधता सरकार के सबसे ऊँचे स्तरों तक है। भारत का संविधान भारत को एक धर्म निरपेक्ष देश घोषित करता हैं जिसे भारत के नागरिकों के स्वत्रंत्रतापूर्वक पूरी आजादी के साथ पूजा–पाठ करने और किसी धर्म या पंथ के प्रचार–प्रसार के, नागरिक अधिकार को हमेशा महत्व देता है, सर्वोच्चता देता है। भारत के संविधान की उद्घोषणा कहती है कि भारत एक ''सम्प्रभु, समाजवादी, धर्म निरपेक्ष तथा लोकतांत्रिक गणराज्य'' है। यह बाध्यकारी निर्देश देता है कि सभी धर्मो को समान निगाह से देखा जाना चाहिए तथा उनके साथ सहिष्णुता का बरताव होना चाहिए। भारतीय राज्य का अपना कोई आधिकारिक राष्ट्रीय धर्म नहीं है परंतु यह अपने नागरिकों को किसी भी धर्म का पालन करने, धर्म के बारे में धार्मिक शिक्षा देने और धर्म का प्रचार–प्रसार करने का अधिकार देता है। सरकार द्वारा सहायता प्राप्त स्कूलों में किसी भी प्रकार के धार्मिक निर्देशों को लागू नहीं किया जायेगा। भारत के सुप्रीम कोर्ट ने कहा है कि धर्म निरपेक्षता भारतीय संविधान का अभिन्न हिस्सा है। भारतीय संविधान के मुताबिक धार्मिक–आजादी भारतीय नागरिकों का मौलिक अधिकार है। भारत के संविधान का दिशा–निदेशक तत्व सलाह देता है कि देश के सभी नागरिकों के लिए एक जैसी नागरिक संहिता बनायी जाए। लेकिन अभी तक इसे व्यवहार में नहीं उतारा जा सका है। यह विश्वास व्यक्त किया जाता है कि भारतीय जन मानस अभी इसके लिए तैयार नहीं है। सुप्रीम कोर्ट ने यह भी कहा है कि समान नागरिक संहिता देश में एकाएक और पूरी की पूरी एक साथ लागू करने से इसके नकारात्मक परिणाम निकल सकते हैं और देश की एकता पर इसका बुरा असर पड़ सकता है, अतः धीरे–धीरे प्रगतिशील बदलाव इसमें किये जाने चाहिए। मुख्य धार्मिक समुदाय अपने–अपने 'परसनल लॉ' के द्वारा संचालित एवं नियंत्रित होते हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जोरोस्ट्रियन

और यहूदी समुदायों के अपने–अपने अलग–अलग परसनल लॉ है। कानूनी प्रक्रियाओं में बौद्ध, जैनी तथा सिखों को हिन्दुओं की कोटि मे रखा गया है, अतएव इन पर भी हिन्दू परसनल लॉ लागू होता है। भारतीय संविधान इसकी भी गारण्टी करता है कि धर्म, जाति या लिंग के आधार पर बिना किसी भेदभाव के सभी भारतीय नागरिक एक समान हैं तथा सभी को वोट देने का अधिकार है। सभी नागरिकों को अपने इन अधिकारों का इस्तेमाल करने का बिना किसी भेद–भाव के पूरा हक है। भारत में रहने वाले सभी लोगों को अपनी पसंद के धर्म को कबूल करने, उसे मानने तथा उसका प्रचार करने की पूरी आजादी है। यहां तक कि धर्म बदलकर किसी दूसरे धर्म को अपनाने का भी मौलिक अधिकार भारत के नागरिकों को प्राप्त है।

भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों को कुछ अलग से अधिकार दिये गये हैं और भारतीय संविधान इनकी गारण्टी देता है। इन अधिकारों का वर्णन संविधान के अनुच्छेद 29 एवं 30 में किया गया है। यह अधिकार खासतौर पर सांस्कृतिक और शैक्षिक हैं। संविधान के अनुच्छेद 29 के मुताबिक भारत में निवास करने वाले धार्मिक एवं भाषायी अल्पसंख्यकों को इस बात का हक होगा कि वे अपनी 'खास भाषा', लिपि या संस्कृति को बरकरार रख सकें या उसको बचा सकें–संरक्षित कर सकें। इनके संरक्षण का कार्य वे अपने संस्थानों के जरिये कर सकते हैं। संविधान का अनुच्छेद 30 कहता है कि भारत में किसी भी ऐसे शिक्षण संस्थान में जो सरकार द्वारा चलाया जा रहा हो या राज्य के कोष से उसे फण्ड मिल रहा हो, धर्म–जाति, नस्ल, भाषा या इनमें से किसी एक के भी आधार पर किसी नागरिक को प्रवेश देने से मना नहीं कर सकता है। अल्प संख्यकों को भी अपनी पंसद के मुताबिक शिक्षण संस्थायें बनाने तथा चलाने का अधिकार होगा और वे इस बात के भी हकदार होंगे कि उन्हें इन संस्थाओं के लिए उसी प्रकार सरकारी सहायता मिले जिस तरह बहुसंख्यक समुदाय द्वारा चलायी जा रही संस्थाओं को प्राप्त हो रही है। इस तरह के अधिकार दिये जाने के पीछे मंशा यह है कि इनके (अल्पसंख्यक) बच्चे भी बेहतर तालीम हासिल कर सकें और

बहुसंख्यक समुदाय के बच्चों से वे प्रतिस्पर्धा कर सकें। हालांकि यह एक हकीकत है कि भारत के सबसे अच्छे शैक्षणिक संस्थानों में से कुछ को अल्पसंख्यक ईसाइयों द्वारा स्थापित किया गया और आज भी संचालित किया जा रहा है। अल्पसंख्यकों को यह अधिकार इसलिए दिये गये कि वे अपने आप को अलग–थलग न महसूस करें। वास्तव में आजादी एवं भ्रातृत्व की सच्ची भावना के एक प्रमुख हिस्से के तौर पर यह सब अधिकार समझे जाने चाहिए। इन अधिकारों की गारण्टी अल्पसंख्यकों को देने के पीछे नीयत यह है कि उनकी सुरक्षा सुनिश्चित की जा सके और उनके धर्म, संस्कृति, भाषा को संरक्षण मिल सके जिससे कि वे बहुसंख्यक समुदाय के बीच में अपनी अलग पहचान बरकरार रखते हुए, आगे बढ़ सकें तथा पूरी आजादी के साथ समाज में अपना योगदान कर सकें।

धार्मिक एवं भाषायी विविधता के अलावा दलितों एवं आदिवासियों या जातीय व्यवस्था में सबसे नीचे के पायदानों पर खड़ी तथाकथित निम्न जातियों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों जिन्हें समाज से अलग–थलग रखा गया था और उन्हें सामाजिक–आर्थिक संसाधनों से वंचित रखा गया था, के सरोकारों से सम्बन्धित प्रावधान भी भारतीय संविधान में किये गये हैं। उनके जीवन में मौजूद विविधता को भी इसमें शामिल किया गया है। संविधान ने ऐसे इलाकों की पहचान की है, जहां पर आदिवासी समुदाय के लोग 'संरक्षणात्मक रूप में दूसरों से एकदम पृथक' रहते हैं। इन इलाकों को अन्य लोगों के लिए पूर्णतया या आंशिक रूप से निषिद्ध घोषित किया गया है। इन चिन्हित इलाकों में आदिवासियों को विशेष अधिकार दिये गये हैं जिससे वे अपने परम्परागत सामाजिक नियमों के मुताबिक अपनी सामाजिक व्यवस्था चला सकें और इसमें अपनी खास सामाजिक–सांस्कृतिक–धार्मिक प्रथाओं को लागू कर सकें। इस तरह से सांस्कृतिक भेदों एवं विविधता को संरक्षण प्रदान किया गया है। लेकिन इस बात का ध्यान रखते हुए कि यह समुदाय भारतीय समाज में अलग–थलग न पड़ जाए भारतीय राजनीति से अलग न रह जाए अतएव अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की राजनीति में भागेदारी सुनिश्चित करने हेतु इन

समुदायों के लोगों के लिए अलग से आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। अलग से दिये जाने वाले इस प्रतिनिधित्व के पीछे समझदारी यह है कि इन समुदायों को, बिना इसका ध्यान दिये हुए कि इनकी संस्कृति भिन्न है और इनकी संस्कृति की बिना अवहेलना किये हुए, इनको स्वर प्रदान किया जा सके।

भारत भिन्न–भिन्न जातीयताओं, धर्मों, जातियों और अलग–अलग भाषायी अल्पसंख्यकों जो कि अलग–अलग पंथों–धर्मों से जुड़े हुए हैं, उप संस्कृतियों और भौगोलिक क्षेत्रों से आते हैं, की भूमि है। इन विविधतापूर्ण समुदाय की एकता कायम करना, बरकरार रखना आजाद भारत की सरकार के सामने एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व रहा है। अल्पसंख्यकों की स्थिति को उन्नत करने हेतु सरकार ने ज्यादा से ज्यादा संवैधानिक गारण्टी दी है–गारण्टीशुदा अधिकार दिये हैं, कई संस्थानों तथा आयोगों का गठन किया गया है जो इस सिलसिले में किये जा रहे प्रयासों की नियमित रूप से निगरानी करते रहें।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस तरह के अधिकार मिलने से वर्ष 1947 से ही अल्पसंख्यकों की हालात तेजी के साथ बेहतर हुई है, लेकिन आज भी वे भेदभाव, हिंसा एवं उत्पीड़न जैसी हालात का सामना करने को विवश हैं। यह हालात केवल अल्पसंख्यकों तक ही सीमित नहीं है, बहुसंख्यक हिन्दुओं में जाति आधारित संघर्षों की समस्या का भी समाधान नहीं किया जा सका है। दलितों के ऊपर सवर्ण हिन्दु जातियों द्वारा उत्पीड़न आज भी एक सामान्य घटनाक्रम के रूप में जारी है। पंथ, मजहब या धर्म के नाम पर संकीर्ण हिंसा देश में कई बार होती रही है चाहे वह वर्ष 2002 का गुंजरात प्रान्त का जन संहार हो जिसमें 2000 मुसलमान कत्ल किये गये या श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद भड़के दंगे में दिल्ली में सिखों का कत्लेआम हो। अभी हाल के समय में ऐसे शहरों, कस्बों में दंगे हुए हैं जहां पर मुसलमानों की ठीक–ठाक आबादी है। हिन्दुत्ववादी तत्वों ने जो यह मानते हैं कि इस्लाम एवं ईसाई धर्म विदेशी धर्म हैं और इन लोगों ने भारत को हजारों साल तक गुलाम

बनाकर रखा, कई चर्चों को जला डाला। इन हिन्दुत्ववादी तत्वों का आगे यह कहना है कि अब समय आ गया है कि इन लोंगों (ईसाइयों–मुसलमानों) तथा इनकी विदेशी संस्कृति से मुक्ति पायी जाय तथा हिन्दू राष्ट्र की स्थापना भारत में की जाय।

हिन्दु राष्ट्रवादी ताकतें जिनका प्रतिनिधित्व आर.एस.एस. (राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ) करता है, का विश्वास है कि तथाकथित धर्म निरपेक्ष लोगों ने भारतीय संविधान में तमाम ऐसे प्रावधान किये हैं जिससे अल्पसंख्यकों को संतुष्ट किया जा सके–खुश किया जा सके और इनका इस्तेमाल 'वोट बैंक' के तौर पर किया जा सके। ये लोग चाहते हैं कि तमाम अल्प संख्यकों को दिये गये 'परसनल लॉ' के विशेष अधिकारों को समाप्त करके एक 'समान नागरिक संहिता' लागू की जाय और धर्मातंरण (धर्म बदलने) के अधिकार को संविधान से हटाया जाय। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, कांग्रेस एवं अन्य धर्म निरपेक्ष दलों को 'नकली धर्मनिरपेक्ष' कहता है और नकली धर्म निरपेक्षता में शामिल होने का आरोप लगाता है। हिन्दु राष्ट्रवादी आरोप लगाते हुए कहते हैं कि चूँकि मुसलमान भारत में सबसे ज्यादा आबादी वाला अल्पसंख्यक समुदाय है अतएव तथाकथित धर्म निरपेक्ष दलों द्वारा उसे सबसे ज्यादा तबज्जो दी जाती है–लाड़ प्यार किया जाता है। आर.एस.एस. एवं इसके सहयोगी संगठनों पर अल्पसंख्यकों के खिलाफ हिंसा करने के आरोप लगते रहे हैं और पिछले समय में आर.एस.एस. पर सरकार द्वारा कई बार प्रतिबंध लगाये गये हैं।

भारतीय क्षेत्र में लड़ाकू इस्लाम के बढ़ने–पैदा होने और विभिन्न शहरों में लगातार लड़ाकू इस्लाम पंथियों के हमलों तथा भारत में जातीय संघर्षों में जारी बढ़ोत्तरी ने हिन्दुत्ववादी ताकतों को बहुसंख्यकों के बीच समर्थन हासिल करने का मौका दिया। लेकिन उन्हें इतना समर्थन कभी भी नहीं मिल पाया कि वे केवल अपने बलबूते सरकार बना सकें। आर.एस.एस. द्वारा समर्थित तथा बी.जे.पी. (भारतीय जनता पार्टी) की अगुवाई में बनी एन.डी.ए. (राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन) सरकार अपने अल्पसंख्यक विरोधी एजेण्डों को

लागू नहीं कर पायी क्योंकि उसके गठबंधन में शामिल अन्य सहयोगी दलों ने इसका विरोध किया। भारतीय जनता पार्टी को गुजरात के धर्म आधारित हिंसा की घटना से एक और झटका लगा। आगामी चुनाव में भारतीय जनता पार्टी की अगुवाई वाला गठबंधन वोट के जरिये सत्ता से हटा दिया गया, ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि उसे अल्प संख्यकों का वोट नहीं मिला बल्कि ऐसा इसलिए हो पाया क्योंकि वह बहुसंख्यकों के बीच अपना आधार खो चुकी थी।

अन्य समस्या जिसका सामना दलितों, आदिवासियों और अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों को करना पड़ रहा है वह अफसरशाही के एक हिस्से में व्याप्त जातिवादी एंव साम्प्रदायिक भावना और इनके बारे में मन में बैठे पूर्वाग्रह। परिणाम स्वरूप ऐसी तमाम योजनाओं जो दलितों, आदिवासियों एवं अल्पसंख्यकों के सामाजिक एवं आर्थिक बेहतरी के लिए बनायी गयी हैं ठीक ढंग से लागू नहीं हो पा रही हैं।

भारत सांस्कृतिक, भाषायी एवं भौगोलिक विभिन्निताओं से युक्त एक ईकाई है। भारत का लोकतांत्रिक गणराज्य बहुलतावाद के राष्ट्रीय विश्वास के विचार पर आधारित है। भारत के विभिन्न राज्यों की सीमाबन्दी भाषायी आधार पर की गयी है। पूरी दुनिया में सबसे ज्यादा विभिन्नताओं वाला देश भारत है। इसकी आबादी एक अरब से भी ज्यादा है जिसमें हिन्दु बहुसंख्यक हैं और पूरी आबादी का लगभग 80.5 प्रतिशत हैं, मुसलमान 13 प्रतिशत, ईसाई 2.3 प्रतिशत, सिख 2.1 प्रतिशत और इसके अलावा बौद्ध, जैन, बहावी, अहमदी, पारसी, यहूदी और अन्य भी हैं। यह धार्मिक विविधता और ज्यादा बढ़ जाती है जब हम भाषायी और सांस्कृतिक विविधता पर गौर करते हैं। सामान्यतया भारतवासी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु हैं और उनका नजरिया धर्म निरपेक्ष बना हुआ है। दो समुदायों के बीच के झगड़ों को सामाजिक जीवन की मुख्यधारा में कभी भी व्यापक समर्थन नहीं मिला है और सामान्यतया यह स्वीकार किया जाता रहा है कि धर्म आधारित झगड़ों या टकराहट का आधार राजनीतिक ही होता है, इसका चरित्र सैद्धांतिक मतभेदों का नहीं होता है। यह भी

एक हकीकत है कि अल्प संख्यक तबका इसलिए भी उत्पीड़ित किया जाता है क्योंकि भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इनकी नकारात्मक छवि बनायी गयी है। अतएव सांस्कृतिक विभिन्नता को प्रोन्नत करने वाली नीतियों में अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक योगदान को भी सकारात्मक रूप में स्वीकार करते हुए इन नीतियों के साथ शामिल करते हुए पेश किया जाना चाहिए।

सालों साल से भारत ने तमाम सांस्कृतिक विविधताओं को अपने में समाहित किया है। इसे जवाहर लाल नेहरू युनिवर्सिटी के सेण्टर फॉर पोलिटिकल स्टडीज से जुड़े गुरप्रीत महाजन ने बहुत अच्छे ढंग से संक्षेप में इस प्रकार रखा है–धर्म आधारित समुदायों को पर्याप्त सांस्कृतिक अधिकार प्राप्त हैं लेकिन उन्हें अलग से कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं है। चिन्हित भाषायी समुदायों को सांस्कृतिक के साथ ही साथ राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त हैं। कई क्षेत्रों में इन्होंने अपनी संघीय ईकाइयाँ भी बनायी हैं जिन्हें एक हद तक राजनीतिक स्वायत्तता भी प्राप्त है और वे स्व–शासन के भी हकदार हैं। आदिवासी समुदायों खासतौर पर पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वालों को विशेष सांस्कृतिक अधिकार प्राप्त हैं साथ ही अलग से प्रतिनिधित्व पाने का राजनीतिक अधिकार और स्व–शासन के विशेष राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं। धर्म आधारित समुदायों को इस तरह के विशेष अधिकार देने के संदर्भ में तमाम तरह की गलत फहमियाँ हैं। किसी न किसी रूप में यह धर्म आधारित समुदाय पूरे देश में बिखरे हुए हैं। भाषायी समुदाय और आदिवासी आबादी–खासतौर में जब वे निर्धारित क्षेत्र में घने रूप में बसे होते हैं–विशेष राजनीतिक अधिकारों का लाभ उठाते हैं। इन अधिकारों ने विविधता को प्रोन्नत किया है और उसके साथ ही साथ लोकतन्त्र को भी सशक्त किया है।

लेकिन धार्मिक अल्पसंख्यक समुदायों को नुकसान उठाना पड़ता है क्योंकि भारत के सांस्कृतिक इतिहास में उनकी छवि को नकारात्मक ढंग से दिखाया गया है। इसलिए ऐसी नीतियाँ बनाते समय जो सांस्कृतिक विविधता को बढ़ाने के लिए है, अल्पसंख्यकों के

योगदानों के प्रति एक सकारात्मक स्वीकृति को भी महत्व दिया जाना चाहिए। सांस्कृतिक विविधता के प्रति कटिबद्धता को मूल रूप से साम्प्रदायिक हिंसा के द्वारा चुनौती दी जाती है–जहां पर एक समुदाय के लोग दूसरे समुदाय के लोगों की तरफ से निशाने पर लिये जाते हैं। हालांकि पिछले कुछ सालों से साम्प्रदायिक हिंसा में कमी आयी है फिर भी वह अल्पसंख्यकों के मन में एक स्थायी असुरक्षा की समस्या के रूप में घर बना चुकी है। साम्प्रदायिक हिंसा केवल मौजूदा ताने बाने को ही नहीं छिन्न–भिन्न करती है बल्कि समुदायों के बीच अविश्वास की जड़ों को और गहरा कर देती है। बहुसंख्यक समुदाय सांस्कृतिक विविधता को अल्पसंख्यको की 'तुष्टिकरण' के रूप में देखता है और अल्पसंख्यक अपने आपको असुरक्षित महसूस करता है और खामोश रहता है–पुरानी हालात में पड़ा रहता है और राजनीति तथा सार्वजनिक जीवन में योगदान करने में खुद को असमर्थ पाता है।

अतएव विभिन्न समुदायों के शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व हेतु यह जरूरी है कि प्रत्येक व्यक्ति के नागरिक होने के नाते प्राप्त अधिकारों की मुस्तैदी के साथ हिफाजत की जाय और एक ऐसा फ्रेमवर्क खड़ा किया जाय जो जीवन जीने के अलग–अलग तरीकों को न केवल सहज स्वीकृति प्रदान करे बल्कि इसको महत्व प्रदान करे।

6

अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक एवं मुख्य धारा

इन शब्दों का मतलब क्या है?

किसी समाज या मुल्क में रहने वाला एक ऐसा छोटा समूह जो बाकी आबादी से फर्क होता है अल्पसंख्यक कहलाता है। यह फर्क समूह की संस्कृति से ताल्लुक रखता है। यह फर्क, नस्ल, भाषा या इसी तरह की मिलती–जुलती बातों को लेकर हो सकता है। भारत में जब हम अल्पसंख्यकों के बारे में बात करते हैं तो किसी सीमा तक इसका मतलब हम यह समझते हैं कि ऐसे धर्म आधारित समुदाय जिनकी संख्या हिन्दुओं की तुलना में बहुत कम है। मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध, पारसी, जैन और कुछ अन्य भी यहां पर अल्प संख्यकों को कोटि में आते हैं, यद्यपि सरकार पहले के 5 को ही अल्प संख्यक मानती है।

दूसरी तरफ बहुसंख्यक पूरी आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा है, इसकी अपनी संस्कृति हैं। इस प्रकार हमारे देश में हिन्दु बहुसंख्यक हैं।

वास्तव में मुख्यधारा जीवन जीने की एक ऐसी पद्धति है या सोच और नजरिये का एक ऐसा सम्मिलित रूप है जिसे किसी समाज या देश के अधिकतर लोग स्वीकार करते हैं और सामान्य रूप में लेते हैं। जो लोग ऐसी जीवन जीने की पद्धति के अनुसार रहते हैं उन्हें ही मुख्यधारा का कहा जाता है।

ऐसे अधिकांश लोग जो मुख्यधारा को तय करते हैं, यह स्वाभाविक ही है कि उनमें जो उल्लेखनीय हैं वे बहुसंख्यक

समुदाय से ही होते हैं। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि अल्प संख्यक अनिवार्य रूप से मुख्यधारा के हिस्से नहीं हो सकते। हकीकत तो यह है कि एक लोकतांत्रिक व्यवस्था सही माने में लोकतांत्रिक तभी हो सकती है जब कि इसके दोनों हिस्से बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक साझे मूल्यों, विचारों को मानें और उसी के अनुसार अपना जीवन जीयें। इसका मतलब यह हुआ कि सांस्कृतिक भिन्नता के बावजूद भी सभी लोग मुख्यधारा में जरूर शामिल हों अन्यथा साझे मूल्यों विचारों के अभाव में लोकतंत्र केवल नाम के लिए होगा और उसे बहुसंख्यकों के वर्चस्व का शिकार होना पड़ेगा।

अल्पसंख्यक अधिकार

यह तर्क अकसर दिया जाता है कि एक धर्म निरपेक्ष लोकतंत्र में 'अल्पसंख्यक' और 'बहुसंख्यक' शब्दों का इस्तेमाल किसी को भी नहीं करना चाहिए क्योंकि सभी नागरिकों को चाहे उनकी जो भी संस्कृति हो एक समान अधिकार प्राप्त हैं। भारत के संदर्भ में हमसे कहा जाता है कि हमें हिन्दु, मुसलमान, ईसाई या अन्य किसी समुदाय के बारे में अलग से बात नहीं करना चाहिए क्योंकि हमारा संविधान कहता है कि देश के सभी नागरिक कानून की निगाह में बराबर हैं। इस तरह का तर्क अपने आप में कहीं से भी गलत नहीं है। फिर भी यहां यह फर्क समझने की जरूरत है कि एक धर्म निरपेक्ष लोकतंत्र वाली व्यवस्था में रहने वाले नागरिकों की असली जिंदगी में यह किस तरह काम करता है और संविधान क्या कहता है।

अधिकतर लोगों के लिए यह आसान नहीं होता कि वे अपनी संस्कृति के बारे में बरकरार पूर्वाग्रहों से ऊपर उठ सकें और यही नजरिया उन्हें दूसरों के साथ अलग ढंग से व्यवहार करने को बाध्य करता है, यहां तक कि अनुचित व्यवहार भी कराता है। यह समस्या स्वाभाविक है और पूरी दुनिया में व्याप्त है। यहां तक कि पश्चिमी दुनिया की लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में भी यह समस्या मौजूद है जहां पर लोग ऐसे लोगों के बारे में

पूर्वाग्रह रखते हैं जो दूसरी नस्लों या धर्मों को मानते हैं। इसलिए अल्पसंख्यक अधिकार का मामला उठता हैं। चूँकि अल्पसंख्यक बहुसंख्यकों की तुलना में कम तादाद में होते हैं अतएव अल्पसंख्यकों में सामान्यतया आत्म विश्वास की कमी होती है। कभी–कभी तो अल्पसंख्यक अपने आपको इतना असुरक्षित पाते हैं कि बहुसंख्यकों के सामने वे अपनी रक्षा करने में भी अपने आपको अक्षम पाते हैं। इसी कारण से अपने सभी नागरिकों को एक समान मानते हुए भी धर्म–निरपेक्ष लोकतंत्र अपने–अपने देश के अल्पसंख्यकों को कुछ विशेष एवं अतिरिक्त अधिकार देता है जिससे वे अपनी रक्षा कर सकें और उन्हें संरक्षण मिल सके। संभवतया इसी नाते अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की विश्वव्यापी समस्या को तवज्ज़ो देते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ (यू.एन.ओ.) ने वर्ष 1992 में अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के मसले पर एक घोषणा पत्र जारी किया है।

भारत में तमाम संस्कृतियों को मानने वाले लोग साथ–साथ रहते आ रहे हैं और अल्पसंख्यकों की आबादी में कुछ ऐसे भी हैं जिनकी आबादी बहुत कम है और कुछ ऐसे भी अल्पसंख्यक समुदाय हैं जिनकी आबादी काफी ज्यादा है। हमारे संविधान के बनाने वालों को इस बात का अहसास था कि अल्पसंख्यको के सामने किस–किस तरह की समस्याएं आ सकती हैं इसलिए संविधान में अल्पसंख्यको को कुछ विशेष अधिकार बतौर मौलिक अधिकार उपलब्ध कराये गये हैं। इन अधिकारों में शामिल है अपने धर्म को मानने, उसके मुताबिक चलने और इसके प्रचार–प्रसार का अधिकार और अपनी पंसद के हिसाब से शैक्षणिक संस्थान चलाने का भी अधिकार उन्हें (अल्प संख्यकों को) दिया गया है।

हिन्दु–मुस्लिम समस्या के संभावित परिणाम

एक धर्म निरपेक्ष लोकतंत्र में अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने हेतु उन्हें कुछ अतिरिक्त हक–अख्तियार देना न केवल समझदारी भरा काम है बल्कि जरूरी भी है। लेकिन सच यह है कि ऐसा

करने के बावजूद भी इस बात की गारण्टी नहीं हो जाती कि असल जिन्दगी में इनके साथ ईमानदारी से तथा बराबरी से सुलूक किया ही जायेगा। अगर इसे मुख्यधारा में शामिल नहीं किया जा सका तो यह बहुसंख्यक वर्चस्व के द्वारा दिक्कतों का सामना करेगी और नागरिकों को दी गयी समानता की बात का कोई मतलब नहीं होगा।

यह बडे दुःख की बात है कि हमारा देश इस तरह की दिक्कत का सामना कर रहा है जो कि समय के साथ–साथ और गहराती गयी है। आजादी के लिए लड़ी जा रही लड़ाई के आखिरी समय में हिन्दु–मुस्लिम हिंसा–जिसका परिणाम था पाकिस्तान का निर्माण, ने कभी भी दोनों समुदायों को अपने मतभेदों को दूर करने का मौका नहीं दिया। आजादी के 64 साल के दौर में बार–बार दंगे होते रहे–बाबरी मस्जिद को तोड़ डालने और वर्ष 2002 के गुजरात के जनसंहार ने दोनों समुदायों के बीच दूरियों को और बढ़ाया। जब हम अपने देश को तमाम अलग–अलग संस्कृतियों के देश के रूप में देखते हैं तो हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम हिन्दु–मुस्लिम अनबन के बारे में गंभीरता से सोचें।

ऐसा नहीं है कि देश ने अन्य अल्पसंख्यकों तथा बहुसंख्यकों के बीच खून–खराबा नहीं देखा है। सिख–आतंकवाद और वर्ष 1984 के सिख–विरोधी दंगे को भुलाया जाना बहुत मुश्किल है। अभी हाल के समय में हिन्दु–ईसाई हिंसक संघर्षों को भी हमने देखा। लेकिन यह भी एक दम सच है कि अन्य कोई समुदाय उतना खून खराबों एवं हिंसक झगड़ों में शामिल नहीं रहा है जितना लम्बा झगड़ा खून–खराबा हिन्दुओं–मुसलमानों के बीच होता रहा है। स्वाभाविक रूप से हम यह देखते हैं कि इन दोनों समुदायों के बीच झगड़े, फसाद देश की सबसे बड़ी साम्प्रदायिक समस्या है। अतएव हम इनके बारे में कुछ और बात करेंगे।

आबादी के हिसाब से मुसलमान देश का सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समुदाय है। जहां सभी अल्पसंख्यक समुदायों की पूरी आबादी देश की कुल आबादी का 5 फीसदी है वहीं अकेले मुसलमानों की आबादी देश की कुल आबादी का 14 फीसदी है जिसका मतलब है प्रत्येक 7 भारतवासी में से 1 मुसलमान है। सालों से हिन्दुओं–मुसलमानों में बढ़ते मतभेद तथा अविश्वास ने दो प्रमुख समस्याओं को खड़ा किया है। मुसलमानों में असुरक्षित होने का अहसास लगातार बढ़ता गया है। मुसलमान जो पूरी आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा हैं वे लगातार मुख्यधारा से कटते गये हैं और इनमें अधिकांश लोग बहुत ही गरीब बने हुए हैं।

संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यू.पी.ए.) सरकार ने वर्ष 2005 में जस्टिस राजिन्दर सच्चर की अगुआई में एक कमेटी नियुक्त की तथा कमेटी को मुसलमानों की हालात पर एक रिपोर्ट तैयार करने का निर्देश दिया। कमेटी ने पाया कि आजादी के समय से ही सभी अल्प संख्यकों में मुसलमान जीवन के सभी क्षेत्रों में सबसे पीछे छूटे हुए हैं। इसका मतलब यह है कि मुसलमान सभी समुदायों की तुलना में शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य आदि मामलों में सबसे बदतर हालात में हैं। कमेटी की राय है कि इसका कारण यह है कि मुसलमानों के साथ उनके धर्म की वजह से अलग व्यवहार किया जाता है।

सच्चर कमेटी की नियुक्ति से पहले वर्ष 1993 में ही यह पाया गया था कि अन्य समुदायों की तुलना में मुस्लिम समुदाय अपने बच्चों को शिक्षा दिलाने में भी असमर्थ था, उनके जितने बच्चों को पढ़ाने की जरूरत थी उससे बहुत कम तादाद में बच्चे पढ़ पा रहे थे। इसी के आधार पर केन्द्रीय सरकार ने मुस्लिम समुदाय को 'शिक्षा के मामले में राष्ट्रीय स्तर पर पिछड़ा अल्पसंख्यक' घोषित किया था। सच्चर कमेटी ने तो इस सच्चाई पर मुहर लगाते हुए यह बताया कि इनकी हालात और बदतर हो गयी है। इन सब बातों से यह पता चलता है कि

मुसलमान आज कहां खड़ा है जबकि आज पूरी दुनिया हमारे देश की तरक्की के लिए उसकी तारीफ कर रही है।

इस तरह के हालात हमको परेशान करते हैं और अपने ही गिरेवां में झांककर यह जानने को कहते हैं कि–हम दुनिया की सबसे बड़ी जम्हुरियत (लोकतंत्र) होने का दावा तो करते हैं, लेकिन क्या हमारे यहां सच्ची जम्हुरियत है? मुसलमान मुख्यधारा में शामिल होने से क्यों विचलित होता रहा है?

जैसे–जैसे हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच गलतफहमियां एवं अविश्वास बढ़ता गया इन दोनों समुदायों के सदस्य एक–दूसरे समुदाय के सदस्यों को परस्पर विरोधी मानते चले गये। दोनों तरफ से जारी इस रूख से मुसलमानों को नुकसान हुआ और वे एक विकसित हो रहे राष्ट्र के नागरिक के रूप में कुछ हासिल करने के काबिल न बन सके। चूँकि ये अल्पसंख्यक थे अतएव बहुसंख्यकों ने इनके सरोकारों एवं अधिकारों को आसानी से नजरअंदाज किया और मुसलमान आत्म विश्वास की कमी के कारण धीरे–धीरे मुख्य धारा से दूर होते चले गये। यह हालात दिन–प्रतिदिन बद से बदतर होती गयी क्योंकि इन दोनों समुदायों में से किसी ने भी आपसी अविश्वास को खत्म करने का कोई उचित प्रयास नहीं किया। बल्कि इसके बजाय उन्होंने आपसी अविश्वास को और सशक्त किया।

अनबन की जड़ और अविश्वास की राजनीति

हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो समस्यायें मौजूद हैं वे इनके द्वारा नहीं बनायी गयी हैं। यह एक खुली हकीकत है कि दोनों समुदाय शताब्दियों से अमनचैन के माहौल में साथ साथ रहते चले आ रहे थे। इन हालात में तब्दीली आना तब शुरू हुई जब अंग्रेज यहां हुकूमत करने लगे। जब देश के अन्दर विदेशी हुकूमत से निजात पाने की महत्वाकांक्षा मजबूती पकड़ने लगी तब अंग्रेजों ने हिन्दुओं–मुसलमानों के बीच में अनबन पैदा करने के बीज बोये जिससे कि यह दोनों समुदाय एकजुट

होकर उनके खिलाफ खड़े न हों। उन्होंने 'बाँटों और राज करो' की अपनी नीति जारी रखी और ऐसे हालात पैदा किये जिसके परिणाम स्वरूप देश का बँटवारा हो गया और बड़े पैमाने पर खून–खराबा तथा कत्लेआम हुआ।

पाकिस्तान बनने के बाद भी भारत में हिन्दुओं–मुसलमानों के बीच अनबन–झगड़ा खत्म नहीं हुआ। हिन्दु संगठन, जिनकी इच्छा थी कि भारत को एक हिन्दू राष्ट्र बनाया जाय, वे अब भी बेचैन थे। इन्होंने हमेशा की तरह दोनों समुदायों के बीच में मतभेद बढ़ाने की गतिविधियों को हवा देना जारी रखा। राजनीति में भी इसका खुलकर इस्तेमाल कुछ राजनीतिक दलों द्वारा किया गया जिससे कि वे हिन्दुओं का वोट हासिल करके सत्ता में आ सकें।

देश के आजाद होने के कई सालों बाद तक हिन्दु महासभा एवं जनसंघ दो ऐसे दल थे जो हिन्दुवाद की राजनीति कर रहे थे। जनसंघ का सम्बन्ध हिन्दुत्ववादी संगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आर.एस.एस.) से था। धीरे–धीरे हिन्दु महासभा के मतदाता जनसंघ की तरफ चले गये। जनसंघ देश की राजनीति में अपनी ताकत बढ़ा रहा था। इसके लिए जनसंघ हिन्दुओं–मुसलमानों के बीच अविश्वास को बढ़ा रहा था और यह करते हुए ज्यादा हिन्दु वोट हासिल करने की कोशिश में लगा था। लेकिन इसके बाद जनसंघ के नये अवतार भारतीय जनता पार्टी (बी.जे.पी.) ने इस मकसद को हासिल करने के लिए किसी भी सीमा तक जाने की नीति को अपनाया। यहां तक कि इसने एक अतिवादी कदम उठाते हुए हिन्दु उग्रवाद को और आक्रामक बनाने के लिए पूरे देश में 6000 किमी. लम्बी रथयात्रा निकाली और यह सब इसलिए किया जा रहा था कि अयोध्या में स्थित बाबरी मस्जिद के स्थान पर राम मन्दिर का निर्माण कराने की भावना को उभारकर हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिक उग्रवाद को हवा दी जाय।

इस बात का कोई भी विश्वसनीय सुबूत नहीं है जिसके दम पर यह कहा जाय कि शताब्दियों पुरानी इस मस्जिद का निर्माण राम मन्दिर को तोड़ने के बाद कराया गया था। हिन्दुओं के बीच में जोरदार भावावेश पैदा करके, सत्ता वह भी केन्द्रीय सत्ता पा सकने की तरफ यह सारी कवायद केन्द्रित थी। यह सारी चीजें हिन्दुओं के दिमाग में भरने का काम बी.जे.पी. ने हिन्दु संगठनों के साथ किया।यह मुहिम बाबरी मस्जिद को तोड़ने के साथ खत्म हुई। रथयात्रा की वजह से उत्पन्न तनाव ने कई स्थानों पर दंगे करवाये और बाबरी मस्जिद के तोड़े जाने के बाद चारों तरफ फैली हिंसा और खून–खराबे में लगभग 3000 लोग मारे गये। देश के बँटवारे के बाद से कभी भी इस तरह की हिंसा और खून–खराबा देखने में नहीं आया था।

इन सबसे हिन्दु–मुसलमानों के बीच में और तीखापन तथा और ज्यादा अविश्वास बढ़ा और बी.जे.पी. अपनी ताकत बढ़ाते हुए अपने असली मकसद–केन्द्र की सत्ता तक पहुँची, बी.जे.पी. की अगुवाई में एन.डी.ए. की सरकार केन्द्र में बनी। इसके बाद बी.जे.पी. की सरकार जब गुजरात तथा केन्द्र दोनों स्थानों पर गद्दीनशीं थी तब गुजरात में जनसंहार हुआ और एक बार फिर से 1000 से भी ज्यादा लोगों का कत्ल किया गया और कई हजार लोग बेघर हो गये। इसी बीच में बदतर होती साम्प्रदायिक हालात में कुछ मुस्लिम नवजवानों ने हथियार उठाकर लड़ाका बनने का फैसला किया और देश में 'इस्लामी लड़ाकों' का जन्म हुआ, जिन्होंने इधर–उधर हमले करने शुरू कर दिये जिसमें तमाम लोगों की मौतें हुई। इसकी प्रतिक्रिया में बदले की भावना में कुछ हिन्दुओं ने भी यही रास्ता अपना लिया। इस तरह हालात और बदतर हो गये।

मुसलमानों के बारे में गलत धारणायें

भारतीय जनता पार्टी (बी.जे.पी.) को इतनी ताकत हासिल करना बहुत ही मुश्किल होता अगर उन्होंने, हिन्दु संगठनों तथा अन्य हिन्दुत्ववादी ताकतों ने मिलकर दोनों समुदायों के बीच मतभेदों

को लगातार हवा देने का काम न किया होता। इन लोगों ने मुसलमानों के बारे में ऐसी तमाम धारणाओं का प्रचार किया है जो कि सरासर गलत और बेबुनियाद हैं।

दो ऐसी धारणाओं जिन्होंने पढ़े–लिखे गैर–मुस्लिम लोगों को अपना शिकार बना रखा है वे हैं–मुसलमान 4–4 औरतों से शादी करते हैं या कम से कम एक से ज्यादा औरत से और मुसलमानों के बहुत से बच्चे होते हैं। इस्लामिक मजहबी कानून एक मुसलमान को 4 बीबियों की इजाजत देता है लेकिन इसका मतलब यह कतई नहीं है कि हर एक मुसलमान को ऐसा ही करना चाहिए और न तो यह संभव ही है। जबकि असलियत इसके एकदम उलट है। सच्चाई जानने के लिए हमको कुछ तथ्यों पर निगाह डालने की जरूरत है। वर्ष 2001 की जनगणना के मुताबिक पूरे देश में 1000 पुरूषों के लिए औसतन 935 मुस्लिम औरतें थीं। इन हालात में यदि प्रत्येक मुसलमान 4 नहीं बल्कि 2 बीबियां भी रखे तो मुसलमान मर्दो की आधी से ज्यादा आबादी अविवाहित रह जायेगी। वास्तव में प्रत्येक मुस्लिम मर्द के हिस्से में एक भी बीबी नहीं पड़ेगी।

यह भी कहा जाता है कि मुसलमान अपनी बेटियों को पढ़ाना नहीं चाहते हैं। जबकि तथ्य यह है कि मध्यम श्रेणी मुसलमान परिवारों की लड़कियाँ शिक्षा के उच्च स्तर पर पढ़ाई कर रही हैं और इसमें ज़्यादा से ज़्यादा लड़कियां शामिल हैं। इस मामले में यह भी एक अहम हकीकत है कि आधुनिक उच्च शिक्षा में मुस्लिम लड़कियां इसमें शामिल मुस्लिम लड़कों से बेहतर परिणाम दे रही हैं।

यहां पर एक दो और तथ्यों को हम बताने जा रहे हैं जिनसे यह समझने में आसानी होगी कि शिक्षा के बारे में मुसलमानों के रूख को किस तरह गलत ढंग से पेश किया जाता है। वर्ष 2007 में केन्द्रीय सरकार ने अल्पसंख्यक छात्र–छात्राओं के लिए कुछ वजीफों–प्री–मेट्रिकुलेशन, पोस्ट–मेट्रिकुलेशन की शुरूआत

की। जब इन वजीफों को एडवरटाइज किया गया तो वर्ष 2007–08 में इसके लिए 3.5 लाख छात्रों ने अप्लाई किया और अगले ही साल 2008–09 के लिए यह तादाद 14 गुना बढ़कर तकरीबन आधा करोड़ हो गयी। वर्ष 2001 की जनगणना के मुताबिक देश की कुल आबादी में अल्पसंख्यक 19 फीसदी हैं और इनमें से 13.4 फीसदी मुसलमान हैं और बाकी की आबादी लगभग 5 फीसदी से थोड़ा ज्यादा हैं। इस प्रकार अल्पसंख्यकों की कुल आबादी में मुसलमान तकरीबन दो तिहाई हैं। चूँकि यह सारे वजीफे केवल अल्पसंख्यक छात्र–छात्राओं के लिए हैं जो किसी स्कूल, कॉलेज या किसी अन्य शिक्षण संस्थान में पढ़ रहे हैं अतएव यह कल्पना करना कि बिना मुस्लिम छात्रों के बड़ी तादाद में अप्लाई किये यह संख्या 14 गुना तक कैसे बढ़ गयी?

मुस्लिम तालीम से ताल्लुक रखने वाली एक दिलचस्प घटना है। यह रिपोर्ट आयी कि उत्तर प्रदेश के बहराइच जिले में मुसलमानों द्वारा चलाये जा रहे दो स्कूल मदरसे में तब्दील कर दिये गये। उन्होंने ऐसा सरकार द्वारा दी जाने वाली ग्राण्ट को हासिल करने के लिए किया था–यह ग्राण्ट केवल मदरसों को दी जाती है किसी और स्कूल को नहीं। ऐसा उन्होंने इसलिए किया जिससे उन्हे साइंस टीचर मिल सकें। इन स्कूलों के छात्र टाई पहनते थे और अब उनसे कहा गया कि वे अब टोपी भी पहनेंगे। इससे यह पता चलता है कि मुसलमान वास्तव में किस तरह की तालीम चाहते हैं और उनके बारे में किस तरह गलत धारणा का प्रचार किया गया है।

इसी तरह की एक धारणा और प्रचारित की जाती हैं कि मुसलमान क्षेत्रीय भाषा को नहीं बोलते बल्कि उर्दू भाषा बोलते हैं। सच तो यह है कि ऐसे इलाके जहाँ उर्दू बोली जाती है जैसे दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश के अलावा अन्य इलाकों में मुसलमान भी स्थानीय भाषा अन्य लोगों की ही तरह बोलते हैं। यह भी एक खुली हकीकत है कि उत्तर प्रदेश या बिहार के मुसलमान के लिए यह बहुत ही मुश्किल है

कि वह तमिलनाडु या केरल के किसी दूसरे मुसलमान से बात कर सके अगर इन दोनों को किसी तीसरी भाषा की अच्छी जानकारी नहीं है।

मुसलमानों की खैरियत चाहने वाले और बचाने वाले:

मुसलमानों के बारे में इस तरह को झूठी अवधारणा के प्रचार ने और हिन्दु–मुस्लिम के बीच के विवादों के जारी रहने ने न केवल मुसलमानों को मुख्य धारा से विचलित कर रखा है–अलग–थलग कर रखा है बल्कि इन सब ने उन्हें हमेशा असुरक्षा के अहसास में जकड़ रखा है। इसने एक नयी तरह की सियासत की भी शुरूआत की। हर तरह की धर्म निरपेक्ष पार्टियां मुसलमानों की शुभ–चितंक तथा रक्षक की भूमिका में होने का दावा करने लगी हैं। ऐसा करते समय इन पार्टियों को इस बात का फायदा नजर आता है कि मुसलमान वोट काफी बड़ी संख्या में है जिस पर वे पूर्ण नियंत्रण चाहते हैं। यह राजनीति कांग्रेस द्वारा शुरू की गयी और आगे चलकर जब छोटे–छोटे धर्म निरपेक्ष दल अस्तित्व में आने लगे तो इन्होंने भी यह कोशिश शुरू की कि मुसलमान उनके पाले में आयें चाहे वह राष्ट्रीय जनता दल हो, समाजवादी पार्टी हो या तेलगु देशम पार्टी या कोई अन्य हो।

किसी भी धर्म निरपेक्ष पार्टी ने कभी भी इस दिशा में कोई कोशिश नहीं की कि मुसलमान भी अपने आपको बहुसंख्यक समुदाय के सदस्यों की तरह मान सकें और यह अहसास कर सकें कि वे भी बतौर भारतीय नागरिक उन्हीं (बहुसंख्यकों) के समान हैं। इसके बजाय इन दलों ने मुसलमानों को हमेशा उनके डर की याद दिलायी और हमेशा उन्हें यह अहसास कराते रहे कि वे मुसलमान हैं। जैसे कि मुसलमानों का सरोकार किसी अन्य बात से न होकर केवल एक ही बात से हो और वह हो उनकी अपने समुदाय की पहचान का सरोकार।

फिर और भी ज्यादा विडम्बना यह थी कि जमात–ए–इस्लामी जैसे मुस्लिम संगठनों, मौलवियों और मुस्लिम नेताओं की करतूत, जिन्होंने मुसलमानों को यह सोचने की कभी इजाजत ही नहीं दी कि उनकी जिन्दगी में मुसलमान होने के अलावा कोई और भी अहमियत रखने वाला मसला है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि धर्म निरपेक्ष पार्टियों ने अपनी 'धर्म निरपेक्षता' (?) के जरिए मुसलमानों को मुख्यधारा से अलग–थलग बनाये रखकर अपने फायदे पर ही पूरा ध्यान दिया है।

कुछ समय के लिए मुसलमानों का समर्थन खोने के बाद कांग्रेस अपनी यू.पी.ए. सरकार के जरिये मुसलमानों एवं अन्य अल्पसंख्यकों की हालात को बेहतर करने की कोशिश कर रही है। कांग्रेस ऐसा इसलिए नहीं कर रही है कि जो लोग पीछे छूट गये हैं उनके लिए ऐसा करना उसकी जिम्मेदारी है बल्कि इसे वह अल्पसंख्यकों को कुछ लाभ देने की नीयत से कर रही है। इससे मुसलमानों के मन में अलगाव की भावना ज्यों की त्यों बनी रहेगी और उनके शुभ चिंतकों तथा रक्षकों को अपनी भूमिका निभाते रहने का मौका बरकरार रहेगा।

मुसलमानों की परेशानी शुदा बदतर हालात :–

चुनावों में कामयाबी हासिल करने के लिए धर्म निरपेक्ष पार्टियाँ मुसलमानों के वोटों के आसरे रही हैं। फिर भी जब भी ये पार्टियां केन्द्र या राज्य में सत्ता में रही हैं तो इनकी सरकारों ने मुसलमानों की बदतर हालात को सुधारने के लिए किसी प्रकार का कोई ठोस काम नहीं किया है। इस प्रकार तमाम पार्टियों और सरकारों का मुसलमानों के बारे में रूख एक जैसा रहा है। अगर सच्चर कमेटी की तरफ से पेश किये गये तथ्यों, जो आगे दिये जा रहे हैं, पर नजर डालें तो हमें पता चलेगा कि किस तरह मुसलमानों को नजर अंदाज किया गया है और उनके साथ अलग ढंग से व्यवहार किया गया है :–

- ☐ मुस्लिम समुदाय जीवन के सभी मामलों में तथा तरक्की के हिसाब से बहुत पीछे छूटा हुआ है। इनकी हालत अनुसूचित जाति (एस.सी.) एवं अनुसूचित जनजाति (एस.टी.) से थोड़ा बेहतर है मगर अन्य जातियों एवं समुदायों की तुलना में बदतर है।
- ☐ साक्षरता के राष्ट्रीय दर की तुलना में मुसलमानों की साक्षरता दर बहुत नीचे है।
- ☐ जहां तक स्कूली तालीम की बात है मुसलमानों की हालत बहुत ही खराब तथा तकलीफदेह है।
- ☐ मुसलमान दो तरह से नुकसान उठा रहे हैं एक तो शिक्षा की कमी और दूसरी शिक्षा की निम्न स्तरीय गुणवत्ता।
- ☐ मुसलमान अपनी शिक्षा को बेहतर करने की चुनौती को मद्देनजर रखते हुए उसके मुताबिक काम नहीं कर पाये हैं।
- ☐ बीच में ही स्कूल की पढ़ाई छोड़ने के मामले में मुस्लिम छात्रों की तादाद सबसे ज्यादा है। अन्य तमाम भारतीयों की तरह मुसलमानों की तालीमी पिछड़ेपन की वजह बेइंतहां गरीबी है। इसी वजह से कुछ सालों बाद बच्चे स्कूल छोड़ने को मजबूर हो जाते हैं।
- ☐ मुसलमानों में बाल श्रमिकों की तादाद अन्य समुदायों की तुलना में बहुत ज्यादा है।
- ☐ अन्य लोगों की तुलना में पक्के घरों में रहने वाले मुस्लिम परिवारों की तादाद काफी कम है।
- ☐ पश्चिम बंगाल एवं बिहार राज्यों के 1000 ऐसे गांव जिनमें मुस्लिम आबादी काफी है, किसी भी प्रकार की तालीमी इंतजामात से महरूम हैं। उत्तर प्रदेश में ऐसे गांवों की तादाद 1943 है। छोटे–छोटे गाँवों में इस तरह की हालात और भी खराब हैं।

- ☐ ज्यादा मुस्लिम आबादी वाले उत्तर प्रदेश राज्य के 5000 गाँवों में किसी प्रकार की मेडिकल सहूलियत नहीं है। इस तरह के 3000 गांव पश्चिम बंगाल एवं बिहार में तथा 2000 गाँव आसाम एवं जम्मू कश्मीर में हैं। अधिकतर राज्यों में ऐसे गांवों में जिनमें मुस्लिम आबादी ज्यादा है, मेडिकल सहूलियतें बहुत ही कम हैं।
- ☐ ज्यादा मुस्लिम आबादी वाले गांव पक्की सड़कों से नहीं जोड़े गये हैं।
- ☐ ग्रेजुएशन करने वाले मुसलमानों एवं अन्य समुदायों के लोगों के बीच में वर्ष 1970 से लगातार अन्तर गहराता जा रहा है।
- ☐ किसी अच्छे शिक्षण संस्थान से ग्रेजुएशन की पढ़ाई करने वाले 25 छात्रों में से केवल 1 तथा पोस्ट ग्रेजुएशन की पढ़ाई करने वाले 50 छात्रों में से केवल 1 छात्र मुस्लिम समुदाय का है।
- ☐ गरीबों एवं गैर–गरीबों दोनों स्तर पर मुस्लिम ग्रेजुएट्स के बीच बेरोजगारी की दर अन्य समुदाय की तुलना में सबसे ज्यादा है।
- ☐ ऐसे काम जिसमें नियमित रूप से तनखाह मिलती है में अन्य समुदायों की तुलना में मुसलमानों की हिस्सेदारी बहुत ही कम है। इस तरह के कामों में शहरी इलाकों में तो मुस्लिम समुदाय की हिस्सेदारी अनुसूचित जाति (एस.सी.) तथा अनुसूचित जन जाति (एस.टी.) से भी कम है।
- ☐ ऐसे मुस्लिम कारिंदे जो नियमित रूप से काम कर रहे हैं सबसे ज्यादा असुरक्षित हैं क्योंकि उन्हें न तो कोई लिखित इकरारनामा मिलता है और न ही सामाजिक सुरक्षा के लाभ ही प्राप्त होते हैं।
- ☐ अन्य समुदायों की तुलना में मुसलमानों में कामकाजी औरतों की तादाद बहुत ही कम है।

- औसतन एक गरीब मुसलमान गरीबी रेखा के स्तर के खर्चों के 75 फीसदी में ही गुजारा करता है जो कि सभी समुदायों में सबसे कम है।
- शहरी इलाकों में भी मुसलमानों की जिंदगी में उतनी तरक्की नहीं हुई जितनी की अन्य समुदायों की हुई।
- भारतीय प्रशासनिक सेवाओं (आई.ए.एस.) में मुसलमानों की मौजूदगी केवल 3 फीसदी है, भारतीय विदेश सेवा (आई.एफ.एस.) में 1.8 तथा भारतीय पुलिस सेवा (आई. पी.एस.) में यह 4 फीसदी है।
- सरकारी विभागों में मुस्लिम कारिंदों की तादाद बहुत ही कम है।
- किसी भी राज्य के सरकारी विभागों में मुसलमानों की मौजूदगी–हिस्सेदारी उनकी उस राज्य में मौजूद आबादी से तालमेल नहीं रखती।
- पुलिस कॉस्टेबिल के तौर पर मुसलमानों की हिस्सेदारी 6 फीसदी है।
- सभी तरह की सियासी गतिविधियों में मुसलमानों की भागेदारी बहुत ही कम हैं जिसका आगे चलकर देश की सियासत पर बुरा असर पड़ सकता है।

राज्य की असफलतायें :–

(i) प्राइमरी शिक्षा उपलब्ध कराने में:

सच्चर कमेटी के सामने जिस तरह की सच्चाईयां आयी हैं उसके आधार पर कमेटी ने इस बात को साफ कर दिया है कि मुस्लिम और अन्य समुदायों के बीच बढ़ती असमानता को नियंत्रित करने के लिए सरकारों तथा राज्य ने कोई प्रयास नहीं किया। शिक्षा अधिकार एक्ट आने से काफी पहले वर्ष 1950 में जब हमारे देश का संविधान लागू किया गया तभी संविधान में यह व्यवस्था की गयी थी कि 14 वर्ष की उम्र तक के सभी

बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी राज्य की होगी। परंतु आजादी के 64 साल बाद भी तस्वीर इसके ठीक उलट है। गरीबी की वजह से तमाम बच्चे बढ़ाई जारी नहीं रख पाते। बेइंतहा गरीबी की वजह से बीच में ही स्कूल छोड़ने वाले बच्चों की सबसे ज्यादा तादाद मुस्लिम समुदाय में हैं, इससे यह पता चलता है कि राज्य अपनी बुनियादी जिम्मेदारियों में से एक को किस तरह निभाने में नाकामयाब रहा है।

उच्च शिक्षा किसी को एक बेहतर तथा नियमित आजीविका वाला भविष्य देने की संभावना से भरा होता है। लेकिन अगर प्राइमरी शिक्षा से कोई वंचित रह गया है तो वह भविष्य में इन सारी संभावनाओं से भी महरूम हो जाता है। क्या यह सच नहीं है कि लगातार 64 सालों से गरीब बच्चों को कम से कम प्राइमरी शिक्षा उपलब्ध कराने की भी जिम्मेदारी निभाने में राज्य नाकामयाब रहा है। यदि राज्य अपनी इस जिम्मेदारी को निभाता तो संभवतया इनमें से भारी तादाद में बच्चे अपनी प्राइमरी शिक्षा पूरी कर लेते, इनमें से तमाम अपनी उच्च शिक्षा भी पूरी कर लेते और इन बच्चों का एक हिस्सा संभवतया मुसलमानों का भी होता। अच्छा रोजगार पाकर, अपनी क्रय शक्ति बढ़ाकर और एक बेहतर नजरिये के साथ यह शिक्षित तथा उन्नत मुसलमान शायद अपने आपको मुख्यधारा में पाते और इनकी यह कामयाबी अन्य मुसलमान बच्चों को इनके रास्ते अपनाने के लिए प्रेरित करती। पिछली दो पीढ़ियों से राज्य इस तरह काम करता रहा कि यह लगता है जैसे कि यह सब करने की उसकी जिम्मेदारी नहीं है। उसने अभी हाल में इस दिशा में काम करना शुरू किया है और शिक्षा अधिकार एक्ट लाया गया है।

(ii) सभी समुदायों के दलितों के साथ एक समान व्यवहार करने में:—

सरकारी नौकरियों के मामले में नागरिकों के मौलिक अधिकारों

की अवहेलना करते हुए सरकार ने विभिन्न समुदायों के दलितों के साथ अलग–अलग व्यवहार किया है। भारत के संविधान के अनुच्छेद–15 में साफ–साफ कहा गया है कि राज्य किसी भी नागरिक के साथ धर्म, जाति, नस्ल या जन्मस्थान के नाम पर कोई भेदभाव नहीं करेगा। साथ ही संविधान का अनुच्छेद–16 कहता है कि धर्म, नस्ल, जाति आदि के आधार पर किसी भी नागरिक को सरकारी नौकरी में न तो अयोग्य माना जायेगा और न तो अलग व्यवहार किया जायेगा। ये संवैधानिक प्रावधान इस बात को सुनिश्चित करते हैं कि देश में किसी के साथ भेदभाव पूर्ण व्यवहार इस नाते नहीं किया जायेगा क्योंकि वह किसी खास धर्म को मानता है।

भारतीय संविधान लागू होने के बाद राष्ट्रपति के आदेश द्वारा इसके एक प्रावधान को संशोधित किया गया। इसके जरिये यह प्रावधान किया गया कि केवल हिन्दु दलितों को अनुसूचित जाति के दरजे में रखा जायेगा जिसका मतलब है कि केवल यह (हिन्दु दलित) ही सरकारी नौकरियों में आरक्षण का लाभ उठा सकेंगे। इस मामले में सभी धर्मों के नागरिकों को एक समान नहीं रखा गया है जो कि संविधान के अनुच्छेद 15 एवं 16 के प्रावधानों के विपरीत है। हद तब हो गयी जब वर्ष 1956 में सिख दलितों एवं 1990 में बौद्ध दलितों को तो अनुसूचित जाति की सूची में शामिल कर लिया गया उन्हें भी नौकरियों में आरक्षण का लाभ दे दिया गया मगर मुस्लिम तथा ईसाई दलितों को उनके भाग्य के भरोसे छोड़ दिया गया।

यह सभी लोगों को अच्छी तरह मालूम है कि हिन्दु दलित अपना धर्म बदलकर चाहे जिस धर्म में गये हों, उनके नये धर्म के लोग भी उनके साथ दलितों जैसा ही व्यवहार करते हैं। धर्म बदलने पर भी उनकी हालात में कोई परिवर्तन नहीं आया है। उनमें से अधिकतर अपने–पुराने पेशे से आज भी जुड़े हुए हैं। ये अकुशल मजदूर के रूप में आज भी हैं। वे सबसे ज्यादा गरीब तथा अपने समुदाय में सबसे नीचे की पायदान पर खड़े

हैं। इन हकीकतों को देखते हुए यह समझ में नहीं आता कि क्यों केवल हिन्दु, सिख और बौद्ध, दलितों को ही अनुसूचित जाति की सूची में रखा गया और क्यों मुस्लिम तथा ईसाई दलितों को इस सूची से बाहर रखा गया। इसका कोई समुचित कारण समझ में नहीं आता। एक लम्बे समय से इन्हें भी सूची में शामिल करने की मांग उठायी जाती रही है परंतु इसे अभी तक स्वीकार नहीं किया गया है।

(ii)iअल्पसंख्यकों की हिफाजत के मामले में:

राज्य अल्पसंख्यकों की जान–माल की हिफाजत में नाकामयाब रहा है। देश के संविधान के तहत प्रत्येक नागरिक को हासिल मौलिक अधिकारों में 'समानता का अधिकार' भी है। इसके लिए संविधान का अनुच्छेद–14 कहता है–''राज्य कानून के समक्ष किसी भी व्यक्ति की समानता से इंकार नहीं करेगा या भारत की सीमा के अंदर समान रूप से कानूनी सुरक्षा देगा।'' लेकिन सच कुछ और ही है। जब कभी भी अल्पसंख्यकों एवं बहुसंख्यकों के बीच कोई झगड़ा या दंगा होता है तो बड़ी मुश्किल से राज्य अल्पसंख्यकों की 'एक समान सुरक्षा' करता है चाहे वे मुस्लिम, सिख या ईसाई कोई भी हों।

रोज–व–रोज खतरनाक होते जाते और बढ़ते जाते हिन्दु–मुस्लिम दंगों ने मुसलमानों को हमेशा असुरक्षित तथा धोखे में घिरे होने के अहसास में रखा है। इसके अलावा पुलिस फोर्स में इनकी बहुत कम भागेदारी होने के नाते इनका इस पर भी एतबार नहीं है। तकरीबन आज से 30 साल पहले वर्ष 1981 में पुलिस आयोग ने कहा था–''फोर्स का गठन इस तरह होना चाहिए कि उसमें सामाजिक संरचना के मुताबिक ही सभी समुदायों की भागेदारी हो और इस तरह समाज के सभी समुदायों के विश्वास को प्राप्त किया जा सके।'' इसका मतलब है कि पुलिस आयोग इस बात को बखूबी समझ रहा था कि अल्पसंख्यक पुलिस पर कितना विश्वास करते हैं। उस आयोग

के ऐसा कहने के 25 साल बाद सच्चर कमेटी ने रहस्य पर से परदा हटाते हुए कहा कि हालांकि मुसलमान पूरे देश की आबादी का 14 फीसदी हैं लेकिन पुलिस फोर्स में उनकी हिस्सेदारी बहुत ही कम है; 6 फीसदी सिपाहियों मे ंतथा 4 फीसदी आई.पी.एस. अफसरों में। इन सालों में सरकार ने पुलिस फोर्स में मुसलमानों की तादाद बढ़ाने के लिए कोई कदम नहीं उठाया।

मुसलमान मुख्यधारा में आना चाहते हैं

इस बात का डर लगातार बढ़ता जा रहा है कि गरीबी के साथ ही साथ असुरक्षा की भावना नवजवान मुसलमानों को राज्य तथा अपने भविष्य पर भरोसे से कहीं दूर न ले जाय। हालांकि बहुत सी बातों में बदलाव भी आ रहा है। सामन्यतौर पर लगभग पूरे के पूरे मुसलमानों में धीरे–धीरे यह सोच बन रही है कि अगर वे मुख्यधारा से कटे रहे–अलग रहे, तो वे हमेशा घाटे में रहेंगे। इसी रोशनी में साइंस टीचर रखने के लिए सरकारी ग्राण्ट पाने के मकसद से प्राइवेट स्कूल को मदरसे में बदलना या मुसलमानों के बच्चों द्वारा बड़ी तादाद में सरकारी वजीफे के लिए अप्लाई करना आदि को देखा जाना चाहिए। लेकिन सच्चर कमेटी ने एक और बड़े सच पर से परदा हटाया –ऐसे स्थानों पर जहां मुसलमान ज्यादा तादाद में हैं वहां भी वे अपने बच्चों को एक अच्छी और मॉडर्न तालीम दिलाना चाहते हैं लेकिन ऐसा वे इस नाते नहीं कर पा रहे हैं कि या तो वहां पर कोई ऐसे स्कूल ही नहीं हैं या गरीबी के कारण उनके बच्चे पढ़ाई जारी नहीं रख पाते बीच में ही स्कूल छोड़ने को मजबूर हो जाते हैं।

मुसलमानों ने यह अहसास करना भी शुरू कर दिया है कि देश में कायम भारतीय जम्हूरियत में खामियों के बावजूद भी यह तमाम इस्लामिक मुल्कों से बेहतर है। पड़ोस में पाकिस्तान में घट रही घटनाओं ने उनकी इस समझ को और साफ किया है। वे इस बात को जानते हैं कि किस तरह से इस्लामी

आतंकवादियों ने उस इस्लामिक स्थान को नरक में बदल दिया है और उनकी इन हरकतों ने उसकी किस्मत पर भी सवालिया निशान लगा दिया है। यह बहुत छोटी और हल्की बात नहीं हैं कि भारत के मौलवियों ने आतंकवाद की निंदा की और कहा कि इस्लाम शांति–अमन–चैन की शिक्षा देता है हिंसा की नहीं। यह भी कोई मामुली बात नहीं है कि मुम्बई के मुसलमानों ने अपने कब्रिस्तान में मुंबई हमले में मारे गये पाकिस्तानी आतंकवादियों को दफन करने की इजाजत नहीं दी। ये तथ्य यह बताते है कि भारत में आज मुसलमान क्या चाहता तथा सोचता है। वे चाहते हैं कि जो बीत गया सो बीत गया। वे ऐसी जिंदगी नहीं जीना चाहते जिसमें साम्प्रदायिक दंगें हो। साम्प्रदायिक झगड़े हों। वे शांति तथा भाईचारे के माहौल में सभी समुदायों के साथ–साथ रहना चाहते हैं।

मुसलमानों की सोच–नजरिये में यह तब्दीली पिछले कुछ समय से चल रही है जिसकी जानकारी राजनीतिक दलों, राज्य, बुद्धिजीवियों तथा मीडिया और अधिकतर गैर मुस्लिमों को नहीं है। यह एकदम सही समय है जब समाज को उनकी इच्छाओं को महत्व देना चाहिए। वे इच्छायें या चाहते हैं– अच्छी आधुनिक शिक्षा की चाहत, एक बेहतर जिंदगी की चाहत, अमन–चैन एवं भाईचारे के माहौल में रहने की चाहत। यह अहमियत रखने वाली वे बाते हैं जो किसी धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र में अल्पसंख्यकों को मुख्य धारा की तरफ ले जायेंगी।

क्या करने की जरूरत है ?

इस वक्त हालात ठीक हैं सही हैं और कुछ ठोस करने का सही मौका है अन्यथा हम एक बड़ा मौका खो देंगे और यह चूक हमें ऐसी हालात की तरफ ले जा सकती है जो ज्यादा खतरनाक हो। अगर नवजवान मुसलमान हमारी जम्हुरियत से एकदम निराश हो गया और अगर वे इसमें अपने भविष्य को सुरक्षित नहीं देख पाते हैं तो ऐसी हालात में उन्हें निराशा से बाहर निकालना बहुत ही मुश्किल होगा। इन मुश्किलात से पैदा होने

वाली हालात की हम कल्पना कर सकते हैं।

गरीब मुसलमानों की तरक्की और उनके बच्चों को बेहतर मॉडर्न तालीम दिलवाना– यह वे दो कदम हैं जो हालात को बेहतर करने के लिए खास अहमियत रखते हैं। यह समाज के तमाम तबकों द्वारा लगातार एंव सलीके से की गयी कोशिशों से ही संभव हो पायेगा। इस बात की मुकम्मिल गारण्टी होनी चाहिए कि सरकार 'शिक्षा के अधिकार एक्ट' को हकीकत में उतारे ओर इसमें कोई पक्षपात न करे। साथ ही अल्पसंख्यकों के लिए रोजगार के मौके उपलब्ध कराये और खासतौर पर गरीब मुसलमानों को ज्यादा तवज्ज़ो दे।

समझदार मुसलमानों को यह देखना पड़ेगा कि बदलाव की यह प्रक्रिया शुरू हो तथा चलती रहे साथ ही उन्हें यह भी देखना होगा कि मुस्लिम समुदाय में मौजूद पिछड़ी सोच के नाते इस प्रक्रिया का आंख मूद कर विरोध न किया जाय। बहुसंख्यकों में ऐसे लोग जिनका लोकतंत्र तथा धर्म निरपेक्षता पर पूरा एतबार है, के ऊपर भी बड़ी जिम्मेदारी है कि वे इस प्रक्रिया को सफल बनाने में अपनी भूमिका अदा करें। उन्हें चाहिए कि वे अल्पसंख्यकों के हकों के लिए उनके साथ खड़े हों क्योंकि यह ऐसा समय है जब कि उन बातों को, मूल्यों को मज़बूती दे सकते हैं जिन पर वे विश्वास करते आये हैं। जब यह सब होने लगेगा तो मुसलमानों के बारे में बनी गलत धारणायें भी खत्म होने लगेंगी।

यह बदलाव की प्रक्रिया कुछ बाधाओं का भी सामना करने को मजबूर हो सकती है। ऐसी पार्टियां जो मुसलमानों के शुभ चिंतक तथा रक्षक होने का दावा करती रही हैं वे यह नहीं चाहेंगी कि वे अल्पसंख्यकों का वोट खो दें। ऐसी स्थिति में जब मुसलमान आगे बढ़कर मुख्यधारा का हिस्सा बनने लगें तथा स्वतंत्र रूप से सोचने लगें तो ये बदलाव मुकम्मल तौर पर इन दलों को ठीक नहीं जँचेगे। अतएव यह दल ऐसे मौके की

फिराक में रहेंगे जब उन्हें हिन्दुओं मुसलमानों के बीच कोई गंभीर मतभेद पैदा करने का मौका मिले।

लेकिन यह खतरा इन दलों की तरफ से उतना नहीं है जितना बी.जे.पी. की तरफ से है। यह तथ्य है कि बी.जे.पी. की हिन्दुत्ववादी राजनीति इन दलों (धर्म निरपेक्ष दलों) को मुसलमानों का रक्षक बनने का अवसर उपलब्ध करा सकती है। हालांकि बी.जे.पी. अभी अपने आपको एक संयत (संजीदा) पार्टी के रूप में पेश कर रही है—एक मुस्लिम विरोधी पार्टी के रूप में नहीं, लेकिन कोई यह नहीं कह सकता कि यह पार्टी आक्रामक हिन्दुत्ववादी राजनीति में वापस नहीं आयेगी। हालांकि कि यह तयशुदा है कि अगर यह बदलाव की प्रक्रिया एक बार शुरू हुई तथा मुसलमान मुख्यधारा की तरफ बढ़े और मुसलमानों के बारे में गढ़ी गयी अवधारणायें गलत सिद्ध हुईं तो हिन्दुत्व की राजनीति भी अविश्वास पैदा करने की अपनी राजनीति का आधार खोना शुरू कर देगी।

7

हिंसा एवं शांति

20 वीं सदी के आखिरी सालों में हिंसा की समस्या ने हमारे सामने एक जबरदस्त चुनौती खड़ी कर दी है । यह भी ताज्जुब की बात है कि इस समस्या को हमने हलके फुलके में लिया है । हम यह सीखने–समझने के मामले में बहुत ज्यादा आगे नहीं बढ़ पाये हैं कि अपने विवादों को और ज्यादा शांतिपूर्वक कैसे हल करें । इसके बजाय हमने अपनी लड़ाइयों–विवादों के जहरीलेपन को और बढ़ा डाला है । रोज ही खबरें युद्ध और हिंसा की घटनाओं से भरी रहती हैं, किताबों की दुकानें, किताब रखने की आलमारियाँ युद्ध के ऊपर लिखी गयी किताबों से भरी पड़ी हैं, ऐसा लगता है कि जैसे इंसानियत खुद अपने आप से युद्ध कर रही है।

इसकी वजहों को तलाशते हुए कोई यह कह सकता है तथा हकीकत पेश कर सकता कि सभी इंसान न तो एक जैसा सोचते हैं, न एक जैसा अनुभव ही करते हैं और न सभी का दृष्टिकोण एक होता है। अतएव उनके सामने इन मतभेदों से बचने का कोई रास्ता नहीं होता । वे मतभेदों को लेकर उलझते हैं ˙ यह मतभेद हमें असहिष्णुता की तरफ ले जा सकते हैं, यह असहिष्णुता हमें झगड़े की तरफ ले जा सकती है और यह दुश्मनी भरा झगड़ा हमें हिंसक विवाद या संघर्ष की तरफ ले जा सकता है।''

विवाद या संघर्ष कोई एकाएक घटने वाली घटना नहीं है जो बिना किसी पूर्व चेतावनी के, बिना किसी आधार या बिना किसी तरह की कदम दर कदम आगे बढ़ने की प्रक्रिया को अपनाये –

एकाएक घट जाती है । पसंद – नापसंद, सत्य या न्याय या अधिकार या हित आदि के बारे में सोच और नजरियों दृष्टिकोणों तथा हासिल अनुभवों में भिन्नता संघर्षों (विवादों) की बुनियाद में होती है। यह दृष्टिकोण दिमाग में पैदा होते हैं या एक आकार लेते हैं, अपने दृष्टिकोण को सबसे ऊपर रखने की महत्वाकांक्षा और निश्चय या दूसरे के दृष्टिकोण को स्वीकार करने की बातें भी दिमाग में ही पैदा होती हैं । यह दिमाग ही है जो उस साधन या माध्यम पर रोशनी डालता है, या चुनता है या आकार देता है, जिसके जरिये कोई किसी के दृष्टिकोण (नजरिये) के बारे में एक पक्की राय बनाता है। यदि यह इन कारणों की वजह से है जैसा कि हम कह रहें हैं कि संघर्ष या विवाद की पैदाइश इन्सान के दिमाग से होती है और अगर यह दिमाग ही है जो इन्हें पैदा करता है और यह इंसानी दिमाग ही है जो इन्हें चुनता और आकार देता है जिनका इस्तेमाल विवादों या संघर्षों में किया जाता है। यह भी इंसानी दिमाग मे ही होता है जिसके जरिये कोई समस्या सुलझाने का प्रयास कर सकता है जिसका सम्बन्ध संघर्ष या विवाद में बिना सोचे समझे किये गये कामों से होता है।

दो कर्ताओं (पक्षों) (व्यक्तियों, समूहों, संगठनों या राष्ट्रो) के बीच एक दूसरे को प्रभावित करने या साथ – साथ मिजुलकर काम करने के दरम्यान, हितों, मूल्यों, विश्वासों, भावनाओं, उद्देश्यों, उपलब्ध स्थानों, पोजीशन तथा बेइंतहा कम संसाधनों आदि मसलों पर एक जैसी राय (संगति या अनुरुपता) न होना या असहमति होने की मौजूदगी को विवाद या संघर्ष के रुप में परिभाषित किया जा सकता है । फिंक के द्वारा विवाद – संघर्ष को कुछ इस प्रकार परिभाषित किया गया है – ''कोई ऐसी स्थिति या प्रक्रिया जिसमें दो या दो से अधिक स्वतंत्र (अलग) अस्तित्व रखने वाली सामाजिक ताकतें मनोवैज्ञानिक रुप से कम से कम किसी एक रुप में विरोधी या प्रतिद्वंदी रिश्ते रखती हों या कम से कम किसी एक में एक दूसरे को प्रभावित करने के प्रयास में या साथ – साथ काम करने में प्रतिद्वंदी या विरोधी हों।'' (फिंक, 1968, पृष्ठ 456)।

मनोवैज्ञानिक विरोध या प्रतिद्वंदिता में ऐसी बातें भी शामिल होती हैं जैसे असंगत (अलग – अलग या परस्पर विरोधी) लक्ष्य, परस्पर विरोधी हित, भावनात्मक दुश्मनी, तथ्यों या मूल्यों को लेकर असहमति और परम्परागत रुप से चली आ रही दुश्मनी, जबकि विरोध के तेवर में किया गया संवाद (एक दूसरे को प्रभावित करने का प्रयास) ''एकदम सीधे, हिंसक और अनियंत्रित संघर्ष द्वारा अत्यधिक चालाकी से व्यवस्थित अपरोक्ष तथा ऊँचे दरजे के नियंत्रित पारस्परिक हस्तक्षेप पर साधा जाता है'' (फिंक, 1968 पृष्ठ 456)

संघर्ष या विवाद को इस रुप में भी परिभाषित किया जाता है– ''मूल्यों एवं सामान्यतया प्राप्त न होने वाले जीवन स्तर के लिए दावे, शक्ति (सत्ता) एवं संसाधनों के लिए झगड़े तथा ऐसा झगड़ा जिसमें विरोधियों के लक्ष्यों को तटस्थ करना, विरोधियों को क्षति पहुँचाना – चोट पहुँचाना या समाप्त कर देना – शामिल हो''। (लेविस कोजर, 1956 पृष्ठ 8)

गैलटंग संघर्ष को कुछ इस तरह देखते हैं – ''किसी प्रकार की असंगति, एक का लक्ष्य दूसरे के रास्ते में बाधा बना खड़ा है ।'' वे अपने ' संघर्ष के सिद्धांत ' को त्रिभुज के आकार में व्याख्यायित करते हैं । वे वर्णन करते हैं – ''संघर्ष या विवाद दो तरह का रुप ले सकता है – एक कम स्पष्ट रुप– में यह समाज में विभिन्न पक्षों के वस्तुगत हितों में असंगति और दूसरे रुप में समाज में की जाने वाली कार्यवाही में विचारों या व्यक्तिगत पसंद – नापसंद के लक्ष्यों में असंगति (भिन्नता)। (गैलटंग, 1992, पष्ठ 54)

एक तरह से हम कह सकते हैं कि संघर्ष या विवाद तभी होता हैं जब लोग (या अन्य पक्ष) यह अर्थ निकालते हैं कि किसी असहमति के फलस्वरुप उनकी जरुरतों, हितों या सरोकारों को खतरा हो सकता है। हालांकि संघर्ष या विवाद सामाजिक संगठित जीवन का एक सामान्य हिस्सा है जो उन्नत समझ एवं अन्तः दृष्टि के जरिये विकास करने के अनगिनत अवसर उपलब्ध कराता

है । असामान्य कठिन परिस्थितियों के कारण उत्पन्न संघर्ष या विवाद को नकारात्मक रुप में देखने की सोच है । ऐसी तमाम संभावनायें जो घेरे से बाहर (आउट साइड द बाक्स) मौजूद हो सकती हैं के बजाय विवादित पक्षों का झुकाव सीमित विकल्पों और समाधान ढूँढ़ने के सीमित संसाधनों तक ही रहता है।

कुछ ऐसे बिन्दु जिन्हें आगे बढ़ने से पहले दोहराना उपयोगी है :

एक संघर्ष या विवाद केवल असहमति तक ही सीमित नहीं होता बल्कि उससे कहीं ज्यादा गंभीर होता है । यह एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें लोग अपनी भली हालात पर खतरा (शारीरिक या भौतिक, भावनात्मक, शक्ति (सत्ता) और सामाजिक स्तर) महसूस करने लगते हैं। इस प्रकार यह लोगों के जीवन में सार्थक अनुभव होता है, इसे केवल यह कह कर नहीं टाला जा सकता कि ''चलो, यह भी बीत जायेगा'' ..... ।

किसी संघर्ष में शामिल पक्षों के लोगों का संघर्ष के समय मौजूद परिस्थितियों के बारे में जो नजरिया (दृष्टिकोण) होता है उसी के आधार पर वे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने की तरफ झुकाव रखते हैं। यह करते समय लोग अपने नजरियों और प्रतिक्रियाओं को तौलकर उसमें से जो ज्यादा कारगर होता है उसे छाँटते हैं । छाँटने की इस प्रक्रिया में छाँटने का आधार लोगों के अपने मूल्य , संस्कृति, आस्था या विश्वास, जानकारियाँ, सूचनायें, जीवन के अपने अनुभव, जेंडर और अन्य परिवर्तनीय तत्व होते हैं । संघर्ष पर व्यक्त की गयी प्रतिक्रियायें समझ एवं अहसासों से लबरेज होती हैं जो संघर्ष के समाधान के अर्थों में बहुत ही मजबूत और ताकतवर दिशा निर्देशक हो सकती हैं।

किसी भी समस्या की ही तरह, संघर्ष या विवाद में भी दावे, प्रक्रियायें और मनोवैज्ञानिक सरोकार होते हैं जिनका समझौता किया जाना होता है। अगर हम संघर्षों में शामिल लोगों द्वारा अहसास किये जा रहे खतरों को बेहतरीन ढंग से समझना चाहते

हैं तो हमें इस सारे सरोकारों के सभी कोणों और पहलुओं को समझने की जरुरत पड़ती है

संघर्ष या विवाद काम करने के माहौल या परिवेश में सामान्यतया अनुभव किये जाते हैं । जब हम किसी जटिल तथा कठिन परियोजना जिसमें हमने महत्वपूर्ण रुप में अच्छे परिणाम की आशा में समय और धन लगाया है, का प्रबंधन करने की तरफ बढ़ते हैं तब यह (संघर्ष) बड़े पैमाने पर भविष्यवाणी किये जाने योग्य और संभावित परिस्थितियों के रुप में स्वाभाविक रुप से सामने आती है। इस प्रकार अगर हम किसी ऐसी प्रक्रिया को विकसित करें जिसके जरिये से भविष्य में पैदा होने वाले संभावित संघर्षों – विवादों की हम पहले से ही पहचान कर लें और इसके साथ ही साथ अगर हम ऐसी विधि या तंत्र भी विकसित कर लें जिसके जरिये से संघर्षों को भी हम सकारात्मक रुप में सम्बोधित कर सकें, तो हम निश्चित तौर पर इस काबिल हो जायेंगे कि ऐसे नये अवसरों को खोज लें जिससे संघर्षों का रुपांतरण एक उत्पादक सीखों के अनुभव के रुप में सामने आये ।

समस्या समाधान की रचनात्मक कार्यनीतियों के लिए यह जरुरी है कि संघर्ष के प्रबंधन के लिए सकारात्मक नजरिया हो । स्थितियों को ''माई वे' ऑर 'हिज़ वे' के बजाय रुपांतरित करके हमारे लिए जरुरी हो जाता है कि हम नयी संभावनाओं की तलाश करें – ऐसी नयी संभावनायें जो अभी तक पकड़ में नहीं आयी हैं ।

इसके अलावा, सहयोग एवं संघर्ष मानव व्यवहार के दो ढंग हैं । जहाँ सहयोगपूर्ण व्यवहार किसी न किसी स्तर पर सामाजिक एकता, एक साथ जोड़कर रखने की अवस्था और शांति की तरक्की करता है वहीं पर झगड़ालू व्यवहार हालात एवं विकास को नष्ट करता है । यदि संघर्ष से सही ढंग से निपटा न गया तो यह कम तीव्रता से उच्च तीव्रता की तरफ बढ़ सकता है, और व्यापक स्तर के युद्ध में बदल सकता है जो मानव के अस्तित्व के लिए बड़ा खतरा है । उसी समय यह भी ध्यान देने योग्य है कि

किसी समाज विशेष या समुदाय विशेष का सहयोगपूर्ण रवैया समाज में मौजूद दूसरे लोगों के शांतिपूर्ण जीवन को भी प्रभावित कर सकता है । उदाहरण के लिए किसी देश विशेष का अन्ध राष्ट्रवाद उस देश के पड़ोसी देशों से रिश्तों को प्रभावित करता है । उसी तरह किसी समाज में झगड़ालु प्रवृत्ति या व्यवहार वहां पर गुटों के आधार पर लोगों के एकीकरण और सशक्त रुप से पहचान के मुद्दों को खड़ा कर देता है (जैसे – युद्ध या आपातकालीन स्थितियों में लोग राष्ट्रीय एकजुटता प्रदर्शित करते हैं।)

रुख और व्यवहार को सामान्यतया तब नकारात्मक मान लिया जाता है जब उनका सम्बन्ध संघर्ष से होता है । यह नकारात्मक अभिव्यक्ति एकाएक नफरत फूट पड़ने या सीधे तौर पर हिंसा फैल जाने का रुप धारण कर सकती है । लेकिन यह और अधिक संस्थागत रुप ले सकता है तथा सामाजिक दूरियों और सुनियोजित हिंसा को सर्व साधारण प्रक्रिया का रुप दे सकता है ।

साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि कम स्पष्टता लिए हुए, बिखरे हुए छोटे – छोटे संघर्ष कम खतरनाक हैं और सुनियोजित या संस्थानिक रुप लिए हुए संघर्षों की अभिव्यक्ति या परिणाम (सामाजिक दूरी और संस्थानिक हिंसा) ज्यादा खतरनाक और नकारात्मक होते हैं । जब संघर्ष गैर संस्थानिक रुप में स्पष्ट होता है या प्रकट होता है तब नफरत का फूट पड़ना और सीधी–सीधी हिंसा होती है । अकसर इस तरह के दौर में तेजी आती है और संघर्ष और ज्यादा ध्यान खींचने लगता है । गैलटंग इसे इस रुप में देखते हैं कि ''संघर्ष वास्तव में उद्देश्यों की अभिव्यक्ति होता है'' ।

संघर्ष शब्द की व्याख्या करने के लिए अलग – अलग पदावलियों (शब्दों) तथा अभिव्यक्तियों के आधार पर संघर्ष सिद्धांतों को निम्न कोटियों में रखकर इस प्रकार से समझा गया है :–

1. **व्यक्तिगत विशेषताओं (चरित्र) पर आधारित सिद्धांतः** सामाजिक – संघर्षों को इसमें शामिल व्यक्तियों के चरित्र या स्वभाव पर आधारित मानता है।

2. **सामाजिक प्रक्रिया का सिद्धांतः** संघर्ष को एक दूसरे को प्रभावित करने की प्रक्रिया के रुप में देखता हैं चाहे वह व्यक्तियों के बीच में हो या समूहों के बीच में और इस प्रक्रिया के रूप–स्वरूप को एक सामान्य या सर्व साधारण प्रक्रिया बनाना चाहता है।

3. **सामाजिक संस्थानिक सिद्धांतः** संघर्ष को समाज की संरचना और निर्माण हेतु अपनाये गये रास्तों की उपज मानता है ।

4. **'फार्मल थ्योरीज'**ः मानवीय एवं सामाजिक संघर्षों को तार्किक एवं मैथमेटिकल रुप में देखता है (संघर्ष एक नाटक और खेल) ।

(शेलेनबर्ग, 1996, पृष्ठ 13)

विवादों को एकबार फिर से दो कोटियों में रखा जा सकता है– विध्वंशकारी एवं रचनात्मक विवाद। यह निर्धारण विवादों की प्रक्रिया के आधार पर किया जाता है। ड्यूश इसको इस प्रकार परिभाषित करते हैं "एक विवाद के विध्वंशात्मक परिणाम होते हैं यदि इसमें शिरकत कर रहे सहभागी इसके परिणामों से असंतुष्ट हैं और वे यह महसूस करते हैं कि वे इस विवाद की वजह से पराजित हुए हैं। इसी प्रकार किसी विवाद के परिणाम को सकारात्मक कहा जा सकता है यदि इसके सहभागी इसके परिणामों से संतुष्ट हैं और वे यह महसूस करते हैं कि विवाद की वजह से वे पराजित नहीं हुए हैं। (ड्यूश, 1973, पृष्ठ–17)

विध्वंशात्मक विवाद का झुकाव विवाद चक्र एवं हिंसा को बढ़ाने की तरफ होता है और यह विवाद को घुमावदार या पेचीदा बनाने की तरफ बढ़ा सकता है। यद्यपि, ड्यूश का मत यह कहता है कि विवादों का रूपांतण सकारात्मक भी किया जा सकता हैं, यदि इसे

प्रतियोगी की बजाय सहयोगी तरीके से संचालित किया जा सके। जब विवादग्रस्त पक्ष विवाद के मूल–स्वस्प एवं उसे प्राप्त हो रही ऊर्जा को अच्छी तरह समझ लेते हैं तब सहयोगात्मक आचरण तेजी के साथ आगे बढ़ पड़ता है। इसे और गति प्रदान करने के लिए यह जरूरी होता है कि विवादित पक्ष अपनी इस अवधारणा को दुरूस्त कर लें कि विवाद–जटिल, हिंसक, विध्वंशक, डरावना, अपमानित करने वाला और खतरनाक है, साथ ही अपने अन्दर विवादों को हल करने की जानकारी, कौशल विकसित कर सकें।

हिंसा एवं इसके तमाम पहलू :

20वीं शताब्दी के बाद के आधे सालों में चारो तरफ अत्यधिक हिंसा का फैलाव देखने को मिलता है। इस हिंसा के अनेक पहलू या पक्ष हैं। राष्ट्रों के बीच इलाकों पर कब्जा करने और अकसर प्राकृतिक संसाधनो पर नियंत्रण के सवाल को लेकर युद्ध होते रहे हैं, राष्ट्रों के अन्दर युद्ध (सिविल वार) , मिलिट्री इण्डस्ट्रियल काम्प्लेक्सेज की वजह से प्रारम्भ होने वाले युद्ध जो कि व्यापक पैमाने पर चलने वाले युद्धों का एक मूल प्रमुख कारण है और यह विश्व–व्यापी प्रवृत्ति रही है, धार्मिक समूहों द्वारा उकसावेपूर्ण कार्यवाहियों के कारण उत्पन होने वाले युद्ध, बच्चों एवं महिलाओं के विरूद्ध हिंसा, अल्पसंख्यकों के विरूद्ध हिंसा, दलितों (ऐसे लोग जिन्हे भारत में निम्न जातियों का माना जाता है) के विरूद्ध हिंसा। आइये इसे हम विस्तार से समझने का प्रयास करें।

राष्ट्रों के बीच में लगातार जारी लम्बे युद्ध :

आज के दिन में पूरी दुनिया में सबसे लम्बे समय से चले आ रहे युद्धों की कोटि में संभवतया इजरायली–अरब युद्ध है। इसकी शुरूआत वर्ष 1948 में इजरायल के बनाये जाने के साथ हुई और तब से आज तक यह किसी न किसी रूप में जारी है । छोटे पैमाने पर लम्बे–लम्बे समय के लिए और बड़े पैमाने पर छोटे–छोटे समय के लिए यह युद्ध जारी रहा है। इस विवाद की जड़ इजरायल के निर्माण में छिपी हुई है क्योंकि इसका निर्माण पश्चिमी राष्ट्रों–खासतौर पर संयुक्त राज्य अमेरिका (यू0 एस0 ए0)

एवं ब्रिटेन (यू0 के0) के द्वारा फिलीस्तीन के भू–भाग पर किया गया था और इस प्रकार फिलीस्तीन के भू–भाग को छोटा कर दिया गया था। इजरायल एवं इसके पड़ोसी अरब राष्ट्रों के बीच में मुख्य तौर पर वर्ष 1948–49, 1956 एवं 1967 में युद्ध भयानक रूप से भड़का था। हिंसा और सेनाओं की भिड़ंत तथा छोटी–छोटी झड़पें तब से लगातार जारी रही हैं। यद्यपि इस युद्ध को इस रूप में भी पेश किया जा सकता है कि यह यहूदियों एवं मुसलमानों के बीच का युद्ध है, लेकिन वास्तव में यहाँ धर्म कोई मुद्दा नहीं है असली मामला और मुद्दा उस भू–भाग का है, उस इलाके का है जिसे वर्ष 1948 में एक मध्यस्थता के माध्यम से एक नये राष्ट्र के निर्माण के लिए दे दिया गया था। लगातार युद्धों के जरिए इजरायल ने पड़ोसी अरब देशों के और इलाकों पर भी कब्जा कर लिया और इन इलाकों को खाली करने या लौटाने से मना कर दिया। यहाँ पर शांति और अहिंसा के संदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

अफ्रीकी महाद्वीप में युद्ध :

अफ्रीकी महाद्वीप में युद्ध एक स्थायी लक्षण के रूप में दिखता है। 20वीं शताब्दी की 9वीं दशाब्दी तक केन्या, अल्जीरिया, कांगो और अन्य देशों में राष्ट्रीय मुक्ति के लिए युद्ध जारी रहे। दक्षिण अफ्रीका की नस्लवादी नीतियों के कारण इस देश में अन्दरूनी हिंसा जारी रही। पिछले लगभग 50 सालों में एक के बाद एक करके सभी अफ्रीकी देश आजाद होते गये। दक्षिण अफ्रीका ने भी अपनी नस्लीय संकीर्णता को छोड़ दिया है और अ–श्वेत लोग अब इस देश में स्वतंत्र नागरिक हैं।

यह बहुत ही आश्चर्यजनक एवं निराशाजनक बात है कि लगभग सभी के सभी अफ्रीकी राष्ट्रों ने अपने औपनिवेशिक मालिकों के खिलाफ संघर्ष करके आजादी प्राप्त तो की परंतु आजाद होने के बाद इन राष्ट्रों में विभिन्न आदिवासी समुदायों, या पंथों या पार्टियों या व्यक्तित्वों के बीच अन्दरूनी सिविल वार भड़क उठा। इसके उदाहरणों में बेलजियम कांगो (अब जायर रिपब्लिक)

नाइजीरिया, इथोपिया, सोमालिया, सुडान, अंगोला, मोजांबीक, लीबिया, चाड, उगाण्डा और सेण्ट्रल अफ्रिकन रिपब्लिक आदि शामिल हैं। यह अत्यन्त अविश्वनीय लगता है कि इन देशों के लोगों ने आजादी मिलने के बाद जैसे ही इनके औपनिवेशिक मालिकान इनका देश छोड़कर गये, पागलपन अपना लिया, युद्ध भड़काने के काम में लग गये और इन सभी ने अपने देश के ही अन्दर एक दूसरे से लड़ना शुरू कर दिया। अपने राष्ट्र (भारत) में उदाहरण देख सकते हैं– 15 अगस्त 1947 की आधी रात में मिली आजादी खून खराबे की वारदातों से लबरेज थी। यह हमारे ब्रितानी मालिकान की सौगात थी। अपनी (ब्रिटिश राज) बाँटो और राज करो की नीति के द्वारा उन्होने यह सुनिश्चित कर दिया था कि वे मुसलमान एवं हिन्दु, जो सामान्य दिनों में दोस्तों और भाइयों की तरह शांतिपूर्वक ढंग से रहते रहे हैं, उन्हे इस तरह प्रोत्साहित किया जाय या प्रलोभन, लालच दिया जाय कि वे एक दूसरे का गला काटने को तैयार हो जायँ। इसी तरह के कार्य सारे के सारे अफ्रीकी देशों में भी किये गये। भारतीय उप महाद्वीप में जो कुछ हुआ था उससे भी ज्यादा बुरा अगर कुछ इन अफ्रीकी देशों में इनके (उपनिवेश–वादियों) द्वारा किया गया तो वह था प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण जारी रखने का षड्यन्त्र। औपनिवेशिक मालिकान दक्षिण अफ्रीका के प्राकृतिक संसाधनों सोना, तांबा, प्लूटोनियम, हीरा, पेट्रोलियम आदि पर अपना नियंत्रण बरकरार रखना चाहते थे। उन्होने विवादों–मतभेदों को भड़काया–उकसाया जिसके फलस्वरूप व्यापक पैमाने पर धन एवं जन की क्षति हुई। इन विवादों–संघर्षों के जरिये अंग्रेज यह भी सिद्ध करना चाहते थे कि यह देश पराधीन एवं गुणविहीन हैं तथा दरिद्र बने रहने योग्य हैं।

बच्चों एवं औरतों के खिलाफ हिंसा :

जहां तक हिंसा का सवाल है पूरी दुनिया में महिलायें सबसे ज्यादा असुरक्षित हैं। पूरी दुनिया में मीडिया में प्रकाशित खबरें महिलाओं एवं बच्चों के खिलाफ हो रही हिंसा से भरी रहती हैं। कोई भी देश इस त्रासदी से बचा नहीं है चाहे वह विकसित हो या

विकासशील की कोटि में आता हो। बलात्कार के अलावा महिलायें अपने पतियों और परिवार के अन्य पुरूष सदस्यों रिश्तेदारों के द्वारा मारपीट का शिकार होती हैं। इसी तरह बच्चों की पिटायी बाप या माँ या दोनों द्वारा, सौतेली माताओं, चाचाओं, चाचियों या सगे भाई या बहनों आदि द्वारा की जाती है। परंतु घरों के अंदर महिलाओं और बच्चों की पिटाई के मामले को महत्व नहीं दिया जाता और अकसर ऐसा आभास दिया जाता है कि इस तरह के मामले घरेलू मामले हैं और शायद इसीलिए मीडिया इन्हे छोड़ देता है। यह सच है कि कई देशों में इस तरह के मामले अपराध की कोटि में रखे गये हैं तथा कानून की निगाह में दण्डनीय भी हैं लेकिन इस तरह के अपराधों में की गयी कानूनी कार्यवाहियों का प्रतिशत बहुत ही कम है।,

दलितों के खिलाफ हिंसा :

यह समस्या खासतौर पर भारत में ही है। यह महात्मा गांधी थे जिन्होने सबसे पहले इस समस्या को रेखांकित करते हुए उठाया और इस समस्या के समाधान के लिए अपना नजरिया भी पेश किया। गांधी जी ने इन बहिष्कृत जातियों के समूह के लिए हरिजन शब्द का सम्बोधन दिया–इस शब्द को मौजूदा समय की शोषित जाति की जमात पसंद नहीं करती। गांधी जी अकसर इन जातियों के परिवारों के साथ रहते थे। देश की आजादी के बाद आजाद भारत के नवनिर्मित संविधान ने इन जातियों को सुरक्षा एवं संरक्षण देने तथा शिक्षा, सरकारी नौकरियों में आरक्षण देने की व्यवस्था की है। इन जातियों के लिए की गयी यह विशेष सुविधा और विशेषाधिकार का प्रायः अन्य जातिगत समूहों द्वारा विरोध किया जाता रहा है। किसी ऐसे व्यक्ति या समूह के खिलाफ हिंसा, जो किसी अन्य जाति का हो, शर्मनाक है।

कट्टरपंथियों की हिंसा :

कटट्रपंथी गुटों द्वारा की जा रही हिंसक वारदातों की तादाद पूरी दुनिया में हो रही हिंसक घटनाओं में नम्बर एक का स्थान रखती है। हालाँकि कुछ अल्पसंख्यक मुसलमान समूह जैसे वहाबी, युद्ध

की विडम्बनाओं के मामलों को लेकर आवाज उठाते रहे हैं। यह संगठित (कट्टर–पंथी) हैं, इन्हे सी0 आई0 ए0 द्वारा आठवीं दशाब्दी के दौर में अफगानिस्तान में प्रशिक्षित किया गया तथा हथियार उपलब्ध कराये गये। यह सब ऐसे दौर में हो रहा था जब वे रूस के खिलाफ युद्ध कर रहे थे। रूसी सेना को अफगानिस्तान से बाहर खदेड़ दिया गया था। और तालिबान ने वहाँ पर अपना नियंत्रण कायम कर लिया। बिन–लादेन की अगुआई में कार्य करने वाले इस इस्लामिक आतंकवादी गुट ने अपने आपको अल–कायदा नाम दिया। यह गुट रूस, ब्रिटेन, भारत, उजबेकिस्तान, पाकिस्तान, तजाकिस्तान, तुर्की, मिस्र, फिलीपीन्स, इण्डोनेशिया और अन्य कई देशों में हिंसक वारदातें करने का मुख्य तौर पर जिम्मेदार रहा है। इस तरह की हिंसक वारदातों और हमले की पराकाष्ठा के रूप में 11 सितंबर 2001 को याद किया जाता है जिस दिन इस गुट ने न्यूयार्क एवं वाशिंगटन पर हमले किये।

जब अन्य तमाम देश जिसमें भारत भी शामिल है, अल–कायदा के हमलों के शिकार बने तो उन्हे इस गुट के हमलों से अपने बचाव के विशेष प्रबंध करने पड़े। लेकिन अल–कायदा ने जब संयुक्त राज्य अमेरिका पर हमला किया तो यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दा बन गया और अमेरिका ने अफगानिस्तान के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। इस युद्ध को संयुक्त राष्ट्र संघ (यू0 एन0 ओ0) की स्वीकृति नहीं मिली थी। फिर भी लगभग सभी के सभी देशों ने इसका समर्थन किया। इसका अपवाद (जिन्होने अमरीकी हमले का समर्थन नहीं किया) इराक, लीबिया, फिलीस्तीन और क्यूबा थे। इस अपवाद का कोई बहुत मतलब नहीं था क्योंकि बाकी सारी दुनिया अमरीकी पक्ष की तरफ थी।

हालाँकि अफगानिस्तान में एक अमरीकी परस्त सरकार कुरसी पर बैठा दी गयी परंतु तालिबान एवं अल–कायदा को काबू में नहीं लाया जा सका। इनका अता–पता क्या है इसके बारे में भी पक्के तौर पर कुछ पता नहीं हैं। हाँ, इतना जरूर है कि यह इस्लामिक आतंकवादी गुट सभी शांति कामी देशों के लिए एक खतरा है।

साम्प्रदायिक हिंसा :

पूरी दुनिया में यह प्रवृत्ति तेजी के साथ बढ़ी रही है कि उपलब्ध लोकतांत्रिक अवसरों और स्थानों को समाप्त कर दिया जाय, इनको नुकसान पहुँचाया जाय।

धार्मिक आधारों पर कट्टरवाद–आज के समय में एक बढ़ती हुई प्रवृत्ति के रूप में हमारे सामने है, भारत के संदर्भ में इसके उदाहरण के रूप में उड़ीसा की हाल की साम्प्रदायिक–हिंसा की घटना को रखा जा सकता है। भारत और पाकिस्तान में (घटित हो रही साम्प्रदायिक हिंसा एवं कट्टरवाद की घटनायें) जो कुछ हो रहा है वह पूरी दुनिया के पैमाने पर घटित होने जा रही हालात का एक ऐसा भाग है जो दिखायी पड़ रहा है। ज्यों–ज्यों सांस्कृतिक सीमाबंदी ढीली पड़ती जा रही हैं और भू–मण्डलीकरण बहुलतावादी समाजों को बढ़ाता जा रहा है त्यों–त्यों समुदायों–समूहों की पहचान का मामला तीव्रतर होता जा रहा है और इन समुदायों का अपनी एकवादी (अपनी विशिष्ट) संस्कृति को संरक्षित (बचाने) करने का प्रयास ज्यादा हिंसक होता जा रहा है।

धर्म निरपेक्षता एवं लोकतंत्र भारत के शुरू से ही बुनियादी सिद्धांत रहे हैं। हालाँकि आगे चलकर भारत के इन बुनियादी सिद्धांतों को कुछ हिन्दुत्ववादी कट्टरपंथियों द्वारा खतरा पैदा किया गया। इन हिन्दुत्ववादी तत्वों का असली मकसद एक हिन्दु राज्य का निर्माण है। अतएव वे इस मकसद को हासिल करने के लिए नफरत फैलाने का विस्फोटक अभियान चलाते रहते हैं। इस तरह के अभियानों के द्वारा यह कहकर कि 'यदि तुम हिन्दु धर्म की रक्षा नहीं करते हो तो तुम हिन्दु नहीं हो' वे समाज के सबसे गरीब तबकों को भी अपने लपेटे में लेने हेतु उनकी भावनाओं को भड़काते रहते हैं।

बिना इस भय के कि इनका खण्डन किया जा सकता है, हम उड़ीसा तथा गुजरात के ईसाई और मुस्लिम दलितों पर किये गये

हमलो को अत्यंत ही अप्रत्याशित कह सकते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि यह हमले आजाद भारत के इतिहास में सबसे ज्यादा खतरनाक, जातियों एवं धार्मिकता के कारण सताने की घटना के रूप में हैं।

प्राप्त जानकारियों के अनुसार इन हमलों में 100 से ज्यादा ईसाई मतावलम्बी तथा 2000 से ज्यादा मुसलमानों की हत्या कर दी गयी और जो बच गये वे डरे–सहमे हुए अपने जीवन की रक्षा हेतु एक सुरक्षित स्थान की तलाश में जंगलों में भाग गयें, जंगलों में छिपने को मजबूर हुए। आज भी, इस हिंसा के निशाने पर रखे गये भुक्तभोगियों के दिल और दिमाक से डर खत्म नहीं हुआ है। वे विस्थापित होकर शिविरों में रह रहे हैं और भयानक अनुभवों से दो–चार हैं।

उनके अपने गाँवों में, बस्तियों में लौटने की शर्तें किसी प्रकार के समझौते का अवसर या स्थान नहीं देती हैं, यह शर्तें हैं –हिन्दु धर्म में धर्मांतरण, परम्परागत हिन्दु वेश भूषा धारण करना और हिन्दु धार्मिक तौर तरीकों एवं कर्मकाण्डों का पालन।

दलितों को पीड़ित करने, सताने का मामला दोहरे स्तरों पर है– जातिगत आधार पर और धार्मिक आधार पर। ऐसा नहीं है कि दलित समुदाय के विरूद्ध हमले 2002 में ही आरंभ हुए इसके तुरंत पहले भी वर्ष 1989, 1992 और 1997 में भी बड़े पैमाने पर यह हमले किये गये। हर बार केन्द्रीय सरकार बचाव करने में असमर्थ रही, असफल रही और भुक्तभोगियों की कोई मदद नहीं की गयी तथा उन्हे उनके हाल पर छोड़ दिया गया। दलित समुदायों की बदहाली के लिए अकेले केन्द्रीय सरकार ही जिम्मेदार नहीं है बल्कि मानवतावादी एजेंसियों ने भी इस संदर्भ में बहुत थोड़ा सा ही काम किया है। पड़ोसी देश पाकिस्तान में भी ईसाइयों, हिन्दुओं तथा अहमदिया लोगों के खिलाफ हिंसा तथा जुल्म उसी तरह की सीमा तक पहुँच गया है जैसा कि अपने देश भारत में अल्पसंख्यकों के खिलाफ है। पाकिस्तान में 1 अगस्त

2009 को 7 ईसाइयों को जिंदा जला दिया गया जिसमें बच्चे और औरतें भी शामिल थीं। , कई दर्जन लोग घायल हो गये और 180 घरों को लूटा गया और नष्ट कर दिया गया।

पाकिस्तान की यह घटना अपने आप में कोई अकेली घटना मात्र नहीं हैं। जस्टिस एण्ड पीस कमीशन (कैथोलिक बिशप्स कानफेरेन्स आफ पाकिस्तान) के सेक्रेटरी पीटर जैकब कहते हैं कि –''यह इस प्रकार की हिंसा है जिससे हम पहले से परिचित नहीं हैं। गोजरा काण्ड के बाद स्थितियाँ बहुत ही नाटकीय तरीके से बदतर होती जा रही हैं। ऐसे कई और भी मामले हैं जो कभी भी विस्फोटक रूप ले सकते हैं।''

प्रोफेट मोहम्मद और पवित्र कुरान–ए–शरीफ की पवित्रता की हिफाजत की नीयत से बनाया गया 'ईश–निंदा कानून' पाकिस्तान में एक खतरनाक विस्फोटक के रूप में सामने आ रहा है। 'ईश–निंदा कानून' का मसौदा पूरी तरह से धर्म–विशेष पर केन्द्रित है तथा विभेदकारी है। पाकिस्तान बहुजातीय तथा बहु–धार्मिक देश है (पाकिस्तान की कुल आबादी का 4 फीसदी हिस्सा धार्मिक अल्पसंख्यकों का है जिसमें ईसाई, हिन्दु, सिख, बौद्ध, पारसी, बहाई, अहमदिया और कलाश शामिल हैं) और ऐसे देश में यदि कोई ऐसा कानून है जो केवल एक धर्म के संरक्षण एवं सम्मान के लिए है तो इसके परिणाम और ज्यादा घातक होंगे। इसके साथ ही साथ अगर इस तरह के विभेदकारी कानून को पेनल कोड (दण्ड संहिता) में भी शामिल कर लिया जाय तो यह समाज के सबसे कमजोर तबके (बच्चे, मानसिक रूप से अस्वस्थ, अनीश्वरवादियों) को बुरी तरह से प्रभावित करेगा। इस तरह का कानून निजी स्तर पर किये जाने वाले न्याय के लिए खतरनाक स्थान उपलब्ध कराता है, जैसे ईश–निंदा के मामले में बिना किसी जाँच पड़ताल के किसी के भी खिलाफ कोई भी आरोप मढ़ सकता है और ऐसे फैसले कर सकता है जिसे चुनौती नहीं दी जा सकती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट जो धर्म एवं विश्वास की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में है, कहती है कि ईश–निंदा के सन्दर्भ में जो दण्ड का प्रावधान है वह अपराध की तुलना में अनुचित है अर्थात् अपराध के स्तर और दण्ड की मात्रा में उचित तालमेल भी नहीं है। कुछ इस्लाम धर्म के विद्वानों ने भी ईश–निंदा कानून' जैसे कानूनों की निंदा की है और इस तरह के कानूनों के अस्तित्व एवं व्यवहारीकरण पर भी सवाल खड़े किये हैं।

'ईश–निंदा कानून' जो कि व्यवस्था में अनर्निहित है की तुलना में धार्मिक अल्पसंख्कों की समस्यायें ज्यादा व्यापक तथा उलझावपूर्ण हैं। यह कानून के शासन की बुनियाद से बिना किसी तालमेल के, व्यवस्था एवं समाज के एक खास हिस्से को विशेष प्रशासनिक विशेषाधिकार देने की गांरटी देता है।

राजनीति एवं धर्म के घालमेल को एक स्वस्थ लोकतंत्र की निशानी के तौर पर नहीं रखा जा सकता और नागरिक समाज इस बात की माँग करता है कि सभी प्रकार के कट्टरपंथी विचारधाराओं को भी इसके दायरे में लाया जाय। केवल प्रशासनिक नजरिये को आधार बनाकर धार्मिक भेदभाव को न तो खत्म किया जा सकता है और न ही कट्टरपंथियों को नफरत फैलाने के अभियान को जारी रखने से पूर्णतया रोका जा सकता है।,

अल्पसंख्यकों के खिलाफ जो लोग नफरत फैलाने का अभियान चला रहे हैं उन्हे दण्डित करके राज्यों को बातचीत एवं एकजुटता के माहौल को बनाने एवं बढ़ाने का काम करना चाहिए। इसके अलावा एक मजबूत एवं स्वतन्त्र न्याय व्यवस्था के द्वारा भुक्तभोगियों को महत्व दिया जाना चाहिए क्योंकि शांति स्थापना का कार्य वहीं हो सकता है जहाँ न्याय मौजूद हो।

हयूमन राइट्स कौंसिल के 12वें सत्र के मौके पर 16सितंबर 2001 को फ्रांसिकेन्स इण्टरनेशनल ने एक अलग से चर्चा

आयोजित की। इस चर्चा का विषय था– ''साम्प्रदायिक हिंसा एवं इसका धार्मिक अल्पसंख्यकों पर प्रभाव''। इस चर्चा ने एक उत्तेजनापूर्ण बहस को जन्म दिया तथा धार्मिक कट्टरता की बढ़ती एवं चिंतनीय स्थितियों पर एक सार्थक बहस आगे बढ़ी और बहस के बाद यह महसूस किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय धर्म को मानव अधिकारों से जोड़कर देखने की प्रवृत्ति के प्रति अन–इच्छुक है।

आज पूरी दुनिया में कट्टरपंथ बढ़ रहा है तथा लोकतंत्र सिकुड़ता जा रहा है और यह सब जड़वादी एवं एकरूपवादी पहचानों तथा बहुलतावादी एवं बहु आयामी संस्कृतियों के बीच द्वंद के कारण हो रहा है ।

एक नागरिक समाज संगठन के रूप में हमारी भूमिका यह है कि बातचीत तथा आपसी एकता को प्रोन्नत करने का हम काम करें क्योंकि बिना न्याय के शांति को प्राप्त करना संभव नही है। जैसा कि मार्टिन लुथर किंग जूनियर ने कहा है खतरा केवल ''अपने दुश्मनों के शब्दों से नहीं बल्कि अपने दोस्तों की खमोशी से है''।

धर्म एवं विवादः

आज की दुनिया की घटनाओं पर अगर हम केवल सरसरी निगाह डालें तो भी यह पता चल सकता है कि आज दुनिया में चल रहे अधिकांश विवादों एवं संघर्षों की जड़ में धर्म है। अकसर धर्म एक असहमति पैदा करने की संभावना वाला विषय बन गया है। जहाँ पर बाह्य मुक्ति दाँव पर लगी हो वहाँ पर समझौता बहुत मुश्किल है और यहाँ तक कि समझौते को पाप तक मान लिया जाता है और समझौते करने को पापपूर्ण कार्य। धर्म इसलिए भी अत्यधिक महत्वपूर्ण बना हुआ है क्योंकि यह तमाम लोगों की व्यक्तिगत पहचान से भी जुड़ा हुआ है, अतएव किसी की निष्ठा पर खतरा या संकट उसके अपने व्यक्तिगत अस्तित्व पर संकट के रूप में है। यह जातीयतावादी– धार्मिक–राष्ट्रवाद का बुनियादी प्रेरणादायक सूत्र है।

किसी सीमा तक धर्म एवं विवाद के बीच के रिश्ते, वास्तव में, बहुत उलझावपूर्ण हैं। धार्मिक रूप से प्रतिबद्ध एवं प्रेरित शांतिकामी कार्यकताओं ने दुनिया में चारो तरफ फैले विवादों – संघर्षों को हल करने की दिशा में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

धार्मिक अतिवादी विवादों या संघर्षों को आगे बढ़ाने में अपना योगदान कर सकते हैं। वे ईश्वर की इच्छाओं को पूरा करने के लिए उग्र तरीकों को भी जरूरी मानते हैं। किसी भी धर्म के कट्टरपंथी दुनिया के बारे में 'मनिशियन' विश्व–दृष्टि की ही तरफ झुकाव रखते हैं। 'मनिशियन' विश्व–दृष्टि के मुताबिक यह दुनिया अच्छे और बुरे के बीच संघर्ष के रूप में हैं, यह बहुत ही मुश्किल है कि बुरे के साथ समझौता किया जाय। किसी प्रकार की (इन ताकतों के बीच) सहमति बनाना निंदनीय कार्य है और उससे भी ज्यादा यह ईश्वर की इच्छाओं को त्यागना या ईश्वर की इच्छाओं के विपरीत आचरण है।

अतएव आज इस बात की जरूरत है कि कट्टरपंथियों की निगाह में धर्म के शुद्ध (असली) रूप को लाया जाय। हाल ही में सांस्कृतिक–भूमण्डलीकरण ने इस दिशा में पहल शुरू की है। पाश्चात्य भौतिकवाद को इस बात के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है और कहा जाता है कि इसी के प्रभाव से समाज में जुआ, शराबखोरी तथा अनैतिकता बढ़ी है उदाहरण के तौर पर अल–कायदा को लिया जा सकता है। अल–कायदा का कहना है और उसका यह दावा है कि नव–साम्राज्यवाद और साथ ही साथ मुस्लिम पवित्र भूमि पर विदेशी फौजों की मौजूदगी की घटनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रेरित होकर वह कार्य कर रहा है। पाश्चात्य संस्कृति ने परम्परागत सोच को चुनौती देते हुए समूह के ऊपर व्यक्ति को ज्यादा वरीयता दिलाने का कार्य किया है। और साथ ही साथ यह भी सवाल खड़ा किया है कि समाज में महिलाओं की समुचित भूमिका क्या हो? यह भी तय किया जाना चाहिए। न्यू क्रिशचियन राइट (संयुक्त राज्य अमेरिका– यू0 एस0 ए0) के विकास एवं विस्तार ने यह इशारा किया है कि किस प्रकार

पाश्चात्य दुनिया के लोग यह महसूस कर रहे है कि आधुनिक समाज कुछ खो रहा है। स्कूलों में गर्भपात एवं विकास के बारे में दी जा रही शिक्षा के मसले पर आपस में मतभेद हैं और कुछ समूह इसे धार्मिक परम्पराओं पर प्रतिबंध के रूप में देखते हैं, धार्मिक परम्पराओं को खारिज करना मानते हैं।

धार्मिक राष्ट्रवादी भी अतिवादी तथा उग्र संवेदनाओं को प्रस्तुत कर सकते हैं। धार्मिक राष्ट्रवादियों की सोच का झुकाव ऐसा होता है कि वे अपनी धार्मिक परम्पराओं को अपने राष्ट्र या अपनी भूमि से इस तरह जकड़ा हुआ मानते हैं कि वे इसमें से किसी एक के भी अस्तिव के ऊपर खतरे को दूसरे के अस्तित्व के लिए भी स्वाभाविक खतरा मानकर चलते हैं। इसीलिए धार्मिक राष्ट्रवादी अपने धर्म पर खतरे से बचत के लिए ऐसी राजनीतिक स्थिति चाहते हैं जहां पर दूसरों की कीमत पर उनके धर्म को विशेष महत्व प्राप्त हों। इन संदर्भों में इस बात की भी पूरी संभावना होती है कि धार्मिक प्रतीकों का इस्तेमाल जातीयता या राष्ट्रीयता को आगे बढ़ाने के लिए किया जाय। इस तरह का मामला उत्तरी आयरलैण्ड में कैथोलिक्स के साथ, माइलोसेविक्स युगोस्लाविया में सरबियन आर्थोडक्स चर्च तथा भारत में हिन्दु राष्ट्रवादियों के साथ रहा है।

धर्म का लोकप्रिय विस्तृत वर्णन अकसर इस बात को थोपता है कि धर्म के मसले विवादित होते हैं। विश्व स्तर पर मीडिया ने धर्म तथा विवादों (संघर्षों) पर बहुत कुछ लिखा है, गंभीरता से ध्यान दिया है लेकिन इस पर ध्यान नहीं दिया कि धर्म ने किस तरह एक महत्वपूर्ण ताकत के रूप में शांति–स्थापना का कार्य किया है। धर्म के नकारात्मक पहलू तथा धर्म आधारित उग्रवादियों और अतिवादियों के क्रियाकलापों पर जरूरत से ज्यादा जोर देने ने अन्तर–धर्मों (निष्ठाओं) के बीच में पारस्परिक भय एवं निराशा की भावना को पैदा किया है। इससे भी ज्यादा, धार्मिक विवादों–संघर्षों का मीडिया द्वारा विस्तृत वर्णन और इस वर्णन के रुझान की दिशा ने गलतफहमियाँ ज्यादा पैदा की हैं और सूचना–जानकारी

कम दी है। यह सब उद्देश्यों के प्रति गलतफहमी और गठबंधन के प्रति गलतफहमी पैदा करता है परिणाम स्वरूप स्थिति और भी खराब होती जाती है और एकजुटता की हालात कमजोर होती जाती है। कट्टरपंथी, उग्रवादी जैसे शब्दों का लापरवाही के साथ किया गया इस्तेमाल, गंभीर रूप से निष्ठा, लक्ष्य और रणनीति के अर्थों में इसके आशय को बदल देता है।

धर्म एवं विवाद (छिपा हुआ/अप्रकट)

किसी भी ऐसे समाज में जो भिन्नताओं से युक्त है, धार्मिक भिन्नता संभावित विवाद या संघर्ष के एक स्रोत के रूप में होती है। ऐसा इसलिए होता है कि लोग दूसरे की निष्ठा (धार्मिक निष्ठा) के बारे में जानकारी नहीं रखते हैं। समाज में इस तरह के गंभीर तनाव मौजूद हो सकते हैं लेकिन यह जरूरी नहीं है कि यह मौजूद तनाव विवाद या संघर्ष का रूप धारण कर लें।

धर्म अनिवार्य रूप में विवादों को पैदा करने वाला नहीं होता है लेकिन जातीयताओं एवं नस्लीय आधारों पर बँटे समाज में, धर्म एक व्यक्ति या समूह के दूसरे व्यक्ति या समूह से भिन्नताओं को प्रकट करने का कार्य करता है। अकसर यह देखने में आया है कि राजनैतिक या आर्थिक अर्थात् किसी भी रूप में विशेषाधिकार सम्पन्न समूह की तुलना में कम अधिकार सम्पन्न समूह ज्यादा तनावग्रस्त रहता है। जब विशेषाधिकार सम्पन्न समूह कम संख्या वाला होता है जैसा कि युरोप में ऐतिहासिक रूप में यहुदी थे, तो अकसर यह देखने में आया है कि वे छिपे हुए या अप्रकट परंतु महत्वपूर्ण विवादों या संघर्षों को जानते–समझते रहते हैं। इस तरह की स्थितियों में कुछ सुनिश्चित कदम हैं जिनका इस्तेमाल संघर्षों को समाप्त करने के लिए किया जाना चाहिए। अन्तर–धार्मिक समूहों के बीच बातचीत या वार्तालाप (जिसके बारे में आगे चलकर विस्तार से बात की गयी है) आपस में समझ को दुरूस्त करने तथा बढ़ाने में मददगार हो सकता है और मध्यस्थता करने वाली ताकतें इस प्रक्रिया को फेसिलिटेट करने में मदद कर सकती हैं।

धर्म एवं संघर्षो की बढ़ोत्तरीः

संघर्ष के निहित स्रोत (ऐसा स्रोत जो है तो किन्तु प्रकट न होने के कारण सक्रिय नहीं दिखता) के रूप में धर्म की वजह से एकाएक भड़क उठने वाली घटना के कारण विवाद या संघर्ष में बढ़ोत्तरी हो सकती है। विवाद या संघर्ष की ऐसी स्थिति में लोगों की शिकायतें, कष्ट, लक्ष्य और तरीके इस तरह से बदल जाते हैं कि विवाद को सुलझाना और ज्यादा मुश्किल हो जाता है। विवादों में आयी तेजी या गतिशीलता अतिवादियों, उग्रवादियों को बेहतर स्थिति में ला देती है। संकट के समय समूह के सदस्य अतिवादियों, उग्रवादियों को इस रूप में समझ सकते हैं कि वे कुछ कर सकते हैं, कुछ उत्पादित कर सकते हैं, कुछ उपलब्धियां हासिल कर सकते हैं चाहे उपलब्धियाँ अल्पकालिक ही क्यों न हों। इन परिस्थितियों में समूह की पहचान का मामला और मुस्तैदी के साथ लागू किया जाता है जिससे कि अन्य समूहों की पहचान से अपने समूह की पहचान की भिन्नता साफ–साफ समझी–देखी जा सके और यह करते समय उग्रवादियों–अतिवादियों के इस संदेश को लागू किया जाता है जिसके तहत उग्रवादियों का यह कहना है कि किसी एक का धर्म दूसरे की निष्ठा की वजह से हमेशा संकटग्रस्त रहता है, खतरे में रहता है, एक की निष्ठा या धर्म दूसरे की धर्म या निष्ठा से एकदम सीधे–सीधे कदम–दर–कदम विपरीत होता है। अकसर ऐतिहासिक शिकायतों– कष्टों का ठीकरा मौजूदा दुश्मन के सिर फोड़ा जाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अकसर कार्यनीतियों एवं लक्ष्यों में सुसंगत तालमेल नहीं होता है साथ ही साथ उग्र निहितार्थों को बढ़ा चढ़ाकर पेश किया जाता है और स्वीकार किया जाता है। एक बार जब कोई अपने जीवन को बलिदान करके शहीद बन जाता है तब यह बहुत मुश्किल हो जाता है कि आपस में विवादों में घिरे समूहों के बीच समझौता कराया जा सके क्योंकि यदि समझौता हो गया तो लोग यह महसूस करेंगे कि शहीदों का जीवन व्यर्थ में चला गया, उनका बलिदान निरर्थक हो गया।

क्या किया जाना चाहिए :

कई लोगों की निगाह में यह समझदारी हो सकती है कि धर्म आन्तरिक रूप में या निाहित अर्थों में मतभेदों को पैदा करने वाला होता है लेकिन इस समझ या कथन को अनिवार्य तौर पर सही नहीं ठहराया जा सकता है। इसलिए तमाम विवादपूर्ण एवं संघर्ष की स्थितियों में धर्म द्वारा निभायी गयी शांति स्थापित करने एवं विपरीत विचारों तथा पक्षों के बीच में समझौता कराने की भूमिकाओं के बारे में लोगों को बखूबी जानकार तथा समझदार बनाने हेतु जागरूकता के कार्य को प्रोन्नत किया जाना चाहिए। अज्ञानता और सूचना—जानकारी के अभाव के विरूद्ध संघर्ष दूर तक जा सकता है। भिन्न— भिन्न धर्मों या निष्ठाओं को मानने वालों के बीच आमने—सामने बातचीत या वार्तालाप धर्म के सभी स्तरों (नीचे से लेकर ऊपर तक) और धार्मिक समुदायों के सभी क्षेत्रों के लिए लाभदायक हो सकता है। जहां पर खामोशी और गलतफहमियाँ एक सामान्य लक्षण हैं, वहाँ पर अन्य धर्मों के बारे में जानकार बनने का मतलब धर्मांतरण नहीं होता है बल्कि यह कार्य अन्य धर्मों के बारे में एक सही समझ बनाने एवं उसके प्रति सम्मान पैदा करने को फेसिलिटेट कर सकता है। विनम्रता की भावना के साथ विचारों का आदान—प्रदान करना या अपने पक्ष को रखना और अपनी आत्मालोचना करना — जैसे कार्य भी मददगार होते हैं।

यह कहना बहुत मुश्किल से विवादित हो सकता है कि साम्प्रदायिकता—खासतौर पर डरावने हिन्दु—मुस्लिम दंगों के रूप में जब सामने प्रकट होती है, तब यह समाज को एकजुट करने के प्रयासों—प्रक्रियाओं, समाज एवं राज्य के स्थायित्व को खतरे में डाल देती है। साम्प्रदायिक हिंसा की सामाजिक, आर्थिक और मानवीय कीमत अत्यधिक होती है और वास्तव में यह कीमत बड़ी मुश्किल से आकलित या जोड़ी जा सकती है।

भारत में साम्प्रदायिक हिंसा :

धर्म निरपेक्ष लोकतंत्र के आदर्श को आधार बनाकर हासिल की

गयी स्वाधीनता के 64 साल बीत जाने के बाद भी हमने ज्यादा से ज्यादा साम्प्रदायिक हिंसा को होते देखा है और आज भी अल्पसंख्यक अपने आपको असुरक्षित महसूस करते हैं साथ ही यह महसूस करते हैं कि वे एक सम्मानजनक और गरिमामय जीवन के अधिकारों से आज भी वंचित हैं। वास्तव में हमारी जंग–ए–आजादी के नेताओं गांधी, नेहरू, तथा अबुल कलाम आजाद आदि ने सोचा था कि समय के साथ ही साथ साम्प्रदायिकता के घाव भर जायेंगे और भारत के सभी नागरिक एक सम्मानजनक तथा सुरक्षित जीवन के प्राप्त संवैधानिक अधिकारों को हासिल करते हुए एक बेहतर जिंदगी बितायेंगे । लेकिन न केवल यह लक्ष्य हासिल न हो सका बल्कि इसकी हालत और खराब होती चली गयी।

भारतीय जीवन पद्धति में धर्म एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। धार्मिक कायदे–कानून लोगों की वेशभूषा (पहनावा), भोजन, विवाह और यहाँ तक कि पेशे तक को नियंत्रित करते हैं (शाह 1981)। हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध, जैनी और पारसी भारत के मुख्य धार्मिक समुदाय हैं। भारत में व्यक्तिगत निष्ठा के प्रमुख कारक के रूप में आज भी धर्म एक प्रमुख ताकत बना हुआ है। बिना किसी विवाद के यह कहा जा सकता है कि इसके बने रहने में कोई हर्ज नहीं है। समस्या तब खड़ी होती है जब व्यक्तिगत निष्ठा धार्मिक–विरोध–प्रतिरोध का रूप ले लेती है। धर्म विवाद के रूप में सामने इसलिए आता है क्योंकि धर्म सामाजिक जीवन का अंग है और मनुष्य इन्ही सामाजिक स्थितियों में जीता है। समाज के चरित्र (विशेषताओं–विशिष्टताओं) का वर्णन करने वाले वैचारिक आधारों में से धर्म को अलग नहीं किया जा सकता। हालाँकि धर्म को उसके असली रूप स्वरूप में साम्प्रदायिकता के जन्म या विस्तार के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता, धार्मिकता, जो कि धर्म के मामलों में गहरा भावनात्मक समर्पण है, एक मुख्य योगदान करने वाले तत्व के रूप में है और जन सामान्य के बीच भावावेश तथा तीव्रता या गहनता देने वाली रही है (घोष,1987)।

भारत में धार्मिक सहिष्णुता की अभिव्यक्ति राष्ट्र की परिभाषा में सन्निहित है यहाँ पर राष्ट्र को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में परिभाषित किया गया है, और इस परिभाषा पर सरकार आधिकारिक तौर पर, आजादी मिलने के बाद से कायम है। किसी एक धर्म से अपने को अलग रखते हुए कानून ने अपनी निगाह में सभी धर्मों को समान दर्जा दिया है। यद्यपि भारत 'अनेकता में एकता' के सिद्धांत के प्रति समर्पित है फिर भी देश में विभिन्न भाषायी, क्षेत्रीय एवं धार्मिक समूहों के बीच में लगातार संघर्ष होते रहे है। इन संघर्षों में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच के रिश्ते प्रमुख रूप में सहजता से दिखाई पड़ने वाले और दूरगामी प्रभाव डालने वाले रहे हैं।

भारत में हिन्दु–मुस्लिम साम्प्रदायिक हिंसा : एक ऐतिहासिक दृष्टिः

भारत में हिन्दुओं–मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक असहिष्णुता एवं हिंसा की जड़ें कई शताब्दियों पूर्व के ऐतिहासिक दौर में मौजूद हैं। हिन्दु–मुस्लिम साम्प्रदायिक विवादों–संघर्षों के ऐतिहासिक विश्लेषण, इसके कारण और इसकी पूर्व स्थितियों के बारे में प्रस्तुत की गयी व्याख्याओं तथा विश्लेषणों का चरित्र बहुत ज्यादा परस्पर विरोधी रहा है। भारत के समकालीन इतिहासकार तो यह भी मानने को तैयार नहीं हैं कि 19वीं शताब्दी के पहले देश में हिन्दुओं या मुसलमानों की कोई साम्प्रदायिक पहचान मौजूद थी और हिन्दु–मुसलमान विवाद–संघर्ष किसी क्षेत्र विशेष या वर्ग विशेष में पाया जा रहा था (ब्रास, 2003)। सरकार (1983) जैसे इतिहासकारों का मानना है कि हिन्दु–मुसलमान संघर्ष अनिवार्य रूप में आधुनिक प्रवृत्ति है क्योंकि वर्ष1880 ई0 तक उल्लेखनीय साम्प्रदायिक दंगे बहुत कम ही देखने को मिलते हैं।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि साम्प्रदायिकता का जारी रहना जो वर्तमान समय में जारी है, की शुरूआत थोड़ा और पीछे के दौर अर्थात् 18वीं शताब्दी के प्रारंभिक सालों से ही हो गयी थी और कुछ इतिहासकारों का मानना है कि इसका बीजारोपण

मुगल–राज के प्रारंभिक दौर में हो चुका था। इस मत के मानने वाले इतिहासकारों का कथन है कि अन्तर–धार्मिक संघर्ष एवं दंगे जो आधुनिक युग में हो रहे हिन्दु–मुस्लिम संघर्षों–विवादों के रूप में हैं, यह पूर्व आधुनिक युग में भी न केवल मौजूद थे बल्कि नियमित रूप से फैले हुए थे (ब्रास, 2003)। किसी एक धार्मिक समुदाय द्वारा दूसरे धार्मिक समुदाय का उत्पीड़न एक दमनकारी कदम के रूप में भारत पर हमला करने वाले शासकों द्वारा शुरू किया गया।

जब अग्रेजों ने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से अपना आधिपत्य कायम किया, तब उन्होने शुरू में हिन्दुओं को संरक्षण देने की नीति अपनायी। लेकिन वर्ष 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम जिसमें हिन्दुओं–मुसलमानों ने एकजुट होकर कन्धे से कन्धा मिलाकर अंग्रेजी–राज के खिलाफ संघर्ष किया था, के बाद अंग्रेजों ने अपनी नीति में परिवर्तन किया तथा 'बाँटो और राज करो' की नीति को अपनाया। इस नीति के परिणाम स्वरूप तथा जानबूझकर पैदा की गयी हालात की वजह से हिन्दुओं–मुसलमानों के आपसी रिश्ते को पुनः तब आघात लगा जब आजादी की लड़ाई के दरम्यान सत्ता हथियाने का खेल शुरू हुआ। इस प्रकार यह कहा जा सकता है भारत में हिन्दुओं–मुसलमानों के बीच परस्पर विरोधी या विपरीत रिश्ते तो पुराना मामला है लेकिन हिन्दु–मुस्लिम साम्प्रदायिकता को आजादी की लड़ाई के दरम्यान अंग्रेजों द्वारा दी गई विरासत के रूप में समझा जाना चाहिए।

इतिहासकार विपिन चन्द्रा (1984) का कहना है कि कांग्रेस ने अपने अस्तित्व में आने के समय ही ''ऊपर से एकता'' कायम करने की नीति को अपनाया। इस नीति का अर्थ था मध्यम श्रेणी एवं उच्च श्रेणी के ऐसे लोगो को अपने साथ लाना जिनको मुसलमान अपना अगुआ मानता था, और इन्हीं लोगों के कन्धे पर यह जिम्मेदारी डाल दी गयी कि वे मुसलमानों को अंग्रेजी–राज के खिलाफ चलने वाले आंदोलनों में शामिल करायें। अर्थात कांग्रेस ने हिन्दु और मुस्लिम समुदायों की साम्राज्यवाद विरोधी

भावनाओं को महत्व देते हुए इन लोगों से साम्राज्वाद–विरोधी आंदोलन में बढ़–चढ़कर हिस्सेदारी करने की सीधी अपील करने के बजाय ऊपर बतायी गयी 'ऊपर से एकता' कायम करने की नीति को अपनाना बेहतर समझा। यह ऊपर से एकता कायम करने की समझ, साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ने के लिए हिन्दुओं –मुसलमानों के बीच आपसी सहयोग कायम करने में सफलता हासिल नहीं कर सकी। ब्रिटिश दखलंदाजी के खिलाफ मुस्लिम लीग द्वारा शुरू किये गये खिलाफत आंदोलन का कांग्रेस ने केवल समर्थन मात्र किया। वर्ष 1918 और 1922 के बीच हिन्दुओं और मुसलमानों को साथ लाने के सारे गंभीर प्रयासों का जो तरीका अपनाया गया वह यह था कि हिन्दु–मुस्लिम एवं सिख समुदायों के बड़े नेताओं और कांग्रेस के बीच समझौते कराना।

अधिकांशतया कांग्रेस ने धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवादी ताकतों के एक संगठक की भूमिका निभाने के बजाय विभिन्न सम्प्रदायों के नेताओं के बीच एक मध्यस्थ की भूमिका निभायी। इस तरह की भूमिकाओं की वजह से शुरूआती दौर के राष्ट्रवादी नेताओं के बीच एक मूक सहमति बनती चली गयी कि हिन्दु और मुस्लिम समुदाय एकदम अलग हैं जिनके बीच में केवल राजनैतिक और आर्थिक सरोकारों का साझापन है लेकिन धार्मिक, सांमाजिक एवं सांस्कृतिक क्रिया कलापों का साझापन नहीं है। इस तरह साम्प्रदायिकता का बीजारोपण 20वीं शताब्दी के शुरूआती 50सालों में किया गया। वर्ष 1942 के बाद ही मुस्लिम लीग एक मजबूत राजनैतिक दल के रूप में उभरकर आयी और सभी मुसलमानों की तरफ से बोलने–कहने के अधिकार का दावा करने लगी। मुस्लिम लीग ने कांग्रेस को एक हिन्दु संगठन के रूप में वर्णित किया, लीग के इस दावे को अंग्रेजों ने भी अपना समर्थन दिया। कांग्रेस अपने भीतर मौजूद साम्प्रदायिक ताकतों को बाहर निकालकर अपने आपको साम्प्रदायिकता की गंदगी से मुक्त न कर सकी।

वर्ष 1940 में पहली बार मुस्लिम लीग द्वारा लाहैार में पकिस्तान के नारे को व्यक्त किया गया। मुस्लिमों के अलग–अलग समुदायों में,

हिस्सों में पाकिस्तान के बारे में अलग अलग धारणायें थीं। खेतिहर समाज के मुसलमानों के लिए पाकिस्तान का मतलब था हिन्दु जमींदारों के शोषण से मुक्ति, मुस्लिम व्यापारी वर्ग के लिए इसका मतलब था अच्छी तरह से जमे जमाये हिन्दु व्यापारियों के व्यापार तंत्र से निजात मिलना, और मुस्लिम बुद्धिजीवियों के लिए इसका मतलब था बेहतर रोजगार के अवसर हासिल कर पाना। आगे चलकर वर्ष 1946 में जब कांग्रेस नेताओं ने देश के बँटवारे के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और वर्ष 1947 में देश का बँटवारा हो गया जिसका परिणाम था लाखों हिन्दुओं और मुसलमानों का खून–खराबे और कत्लेआम के बीच इधर से उधर विस्थापन। दोनों राष्ट्र आजाद हो गये और इंसानों का खून बहा। यह ज्ञात इतिहास में सबसे बड़ा पलायन, विस्थापन था। बहुत से मुसलमानों ने भारत छोड़ा और पाकिस्तान की तरफ रूख किया और हिन्दुओं ने पाकिस्तान छोड़ते हुए भारत की तरफ पलायन किया। (शाह 1998)। लोगों की एकता एवं प्रतिरोध की क्षमता को कमजोर करने की नीयत से साम्प्रदायिक हिंसा को राज्य की संरचना में शामिल करके इसे एक संस्थानिक रूप दिया गया और इसका इस्तेमाल इन्हें (एकता एवं प्रतिरोध) और कमजोर करने तथा इनपर लगातार हमले करने के लिए किया जाता रहा। वर्ष 1947 में सत्ता के हस्तांतरण से संस्थानों के साम्प्रदायिक चरित्र एवं राज्य के ढ़ांचे के साम्प्रदायिक चरित्र में कोई बदलाव नहीं आया और यह सत्ता हस्तांतरण खुद भी जन संहार के बीच खून–खराबे और कत्लेआम के बीच हुआ था।

वर्ष 1947 में हुए पाकिस्तान के जन्म से भी हिन्दु–मुस्लिम मतभेदों को खत्म नहीं किया जा सका और न ही इनके बीच के संघर्षों को रोका जा सका। बल्कि इसके विपरीत चली आ रही पुरानी समस्यायें जस की तस बरकरार रह गयीं। आज हालात और ज्यादा पेचीदी हो गयी हैं और समस्यायें और ज्यादा उलझाव वाली। इन पेचेदी तथा उलझावपूर्ण हालात के लिए अब केवल मूल्यों में भिन्नता जैसी साधारण बातें ही जिम्मेदार नहीं रह गयी हैं। देश के बँटवारे के बाद से हिंसा एवं साम्प्रदायिक संघर्ष ही

हिन्दुओं–मुसलमानों के आपसी रिश्तों को तय करते आ रहे हैं। (शाह, 1998)। भारत लगातार साम्प्रदायिक दंगों, खासतौर पर हिन्दु–मुस्लिम दंगों से गुजरता रहा है लेकिन आजादी के बाद से इसमें अन्य अल्प संख्यक समुदाय भी जुड़ते गये हैं। आजादी मिलने के पहले भी भारत में गंभीर रूप में साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं जैसे – वाराणसी (1809), लाहौर और दिल्ली (1825), कलकत्ता एवं ढाका (1926), बरेली (1871), अहमदाबाद और बम्बई (1941) और वर्ष 1946 तथा 1947 के देशव्यापी वीभत्स दंगे–(धर, 2002)।

साम्प्रदायिक दंगे 1947–2002:

वर्ष 1947 में भारत–पाकिस्तान के बँटवारे ने बड़े पैमाने पर हिंसा का दरवाजा खोल दिया था परिणाम स्वरूप लाखों लोगों की मौत और विस्थापन–पलायन से हम रूबरू हुये थे। तब से लगातार लगभग हर साल साम्प्रदायिक दंगे होते रहे हैं जिनकी घातकता का स्तर अलग हो सकता है। समय के आधार पर इस तरह की साम्प्रदायिक हिंसा को 5 कालखण्डों में रखा जा सकता है, जो आजादी प्राप्त होने के बाद हमारे देश में घटित हुईं। यह कालखण्ड हो सकते हैं–1951–1960, 1961–1970, 1971–1980, 1981–1993, और 1994–2002। आजादी मिलने के तुरंत बाद के समय में हिन्दुओं–मुसलमानों के बीच में अप्रत्याशित रूप से फूट पड़ी साम्प्रदायिक–हिंसा में 5 लाख से ज्यादा लोगों का कत्लेआम हुआ। यह सीधे तौर पर देश के बँटवारे का परिणाम था और इसके फलस्वरूप एक बहुत बड़ी आबादी को विस्थापित या पलायित होने को परिस्थितियों ने बाध्य किया। यह बँटवारे के नाते उत्पन्न हिंसा वर्ष 1950 तक जारी रही।

वर्ष 1950 से 1960 तक का समय तुलनात्मक रूप में थोड़ा शांत रहा। इस समयावधि में साम्प्रदायिक हिंसा की बहुत कम घटनायें घटित हुईं। भारत में रह रहे मुसलमान देश के बँटवारे के समय हुई साम्प्रदायिक हिंसा की वजह से बहुत डरे–सहमे थे तथा अपने अस्तित्व को बहुत नीचे स्तर पर रखकर–मानकर चल रहे थे। साम्प्रदायिक–शांति कायम रखने में

मुसलमानों का दावेदारी पेश न करने का नजरिया काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। साम्प्रदायिक दंगे एक बार फिर से वर्ष 1961 में जबलपुर (मध्य प्रदेश) में फूट पड़े। इस दंगे को देश के बँटवारे के समय हुए दंगों के बाद पहले बड़े साम्प्रदायिक दंगे के रूप में माना जाता है।

यह आजाद भारत में बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक–हिंसा की श्रृंखलाओं की शुरूआत थी। इसके बाद पूर्वी भारत में साम्प्रदायिक हिंसा की क्रमबद्ध श्रृंखलायें देखने को मिलीं जैसे जमशेदपुर, राउरकेला, राँची और अन्य स्थानों पर हुई साम्प्रदायिक हिंसा। ये साम्प्रदायिक दंगे मुख्यतया उन शरणार्थियों की दुर्दशा एवं कष्ट को सुनने के बाद हुये थे, जो शरणार्थी पूर्वी पाकिस्तान से भागकर इन स्थानों पर आये थे। कुछ दंगे वर्ष 1965 के भारत–पाक युद्ध के कारण उत्पन्न परिस्थितियों के कारण भी हुये थे।

भारतीय राजनीति में कुछ बुनियादी बदलावों की वजह से 20वीं शताब्दी की 6वीं दशाब्दी के आखिर में पश्चिमी भारत में कुछ प्रमुख साम्प्रदायिक दंगे हुये। इस दौर में श्रीमती इन्दिरा गांधी को कांग्रेस के अन्दर मौजूद राजनीतिक आकाओं को किनारे लगाने में सफलता मिली और उन्होने अपनी स्थिति कांग्रेस के सर्वोच्च नेता के रूप में स्थापित कर लिया, साथ ही वे देश की प्रधानमंत्री भी बनीं। इस सारी हालात की वजह से कांग्रेस पार्टी में फूट पड़ गयी और पार्टी में बँटवारा हो गया। जो लोग श्रीमती इन्दिरा गांधी के विरोधी थे उन्होने अपने आपको एक अलग गुट के रूप में पुनः संगठित किया और विपक्षी पार्टियों के साथ तालमेल बैठाकर श्रीमती इन्दिरा गांधी की स्थिति को कमजोर करने के लिए साम्प्रदायिक हिंसा जैसी उकसावे की गतिविधियों में लग गये। फलस्वरूप वर्ष 1969 में गुजरात में वीमत्स साम्प्रदायिक दंगें हुए, एक बार पुनः 1970 में भिवांडी–जलगांव (महाराष्ट्र) में साम्प्रदायिक दंगें भड़क उठे, इन दंगों के लिए उकसावे की कार्यवाही शिवसेना द्वारा की गयी थी। शिवसेना उस वक्त एक राजनैतिक ताकत के रूप में उभर रही थी और महाराष्ट्र की

राजनीति में अपनी स्थिति मजबूत बनाने में लगी हुई थी।

वर्ष 1971 से 1977 तक का समय साम्प्रदायिकता की दृष्टि से तुलनात्मक रूप में शांतिपूर्ण था। इसका पहला कारण तो यह था कि उस समय देश बांगला देश के मुक्ति संग्राम में संलिप्त था और दूसरा कारण था भ्रष्टाचार के खिलाफ जय प्रकाश नारायण की अगुआई में छेड़े गये आंदोलन ने देश का ध्यान आकृष्ट कर रखा था। इस आंदोलन के फलस्वरूप श्रीमती गांधी ने 25जून 1975 को देश में आपातकाल लगा दिया जो वर्ष 1977 तक जारी रहा। इन सब वजहों से साम्प्रदायिक दंगे दर किनार रहे। इसके साथ ही साथ आपात काल के दौरान वे सभी प्रमुख तत्व जेलों में थे जो दंगों को भड़काने का काम करते हैं।

एक और ताजे साम्प्रदायिक दंगों का दौर वर्ष 1978 से 1980 के बीच का था इस दौर में दंगे फूट पड़े। इन दंगों का यह दौर मुरादाबाद दंगों के बाद थम सका जिसमें एक हजार से ज्यादा लोग मौत की नींद सुला दिये गये। इनमें से अधिकांश दंगे, जैसे – जमशेदपुर, अलीगढ़ एवं बनारस (1978–79) के दंगे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आर0 एस0 एस0) द्वारा भड़काये गये थे, जिससे कि वह अपने अस्तित्व की पुनः सिद्धि कर सके जो भारतीय राष्ट्रीय जनसंघ पार्टी के नव निर्मित जनता पार्टी में विलय हो जाने के कारण संकटग्रस्त थी। जनता पार्टी और आर0 एस0 एस0 दोनों की दोहरी सदस्यता के सवाल को लेकर जनता पार्टी के अन्दर उठे विवाद की वजह से भी इन दंगों का मार्ग प्रशस्त हुआ था।

वर्ष 1981 से शुरू होने वाली दशाब्दी में सबसे ज्यादा साम्प्रदायिक दंगे हुए। यह दंगे या तो राजनीतिक मतभेदों के चलते हुए या आर्थिक प्रतिद्वंदिता के कारण। उत्तरी केन्द्रीय भारत में आज के दिन विवादों की मूल वजह वर्ष 1992 में अयोध्या स्थित बाबरी मस्जिद को ध्वस्त किया जाना है (शाह, 1998)। 16वीं शताब्दी में बनायी गयी मस्जिद को 6 दिसंबर 1992 के दिन अयोध्या में ध्वस्त

कर दिया गया। अयोध्या उत्तर भारत के उत्तर प्रदेश राज्य में स्थित है। कई महीने पहले से राजनीतिक दलों, धार्मिक समूहों और सांस्कृतिक संगठनों जिसमें भारतीय जनता पार्टी (बी0 जे0 पी0), राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आर0 एस0 एस0), विश्व हिन्दु परिषद (वी0 एच0 पी0) बजरंग दल और शिवसेना शामिल थे, ने इस बात का आवाहन किया था कि जिस स्थान पर मस्जिद बनी है वहां पर एक विशाल राम मन्दिर बनाया जायेगा। यह इनके उस अभियान का अभिन्न भाग था जिसके तहत वे हिन्दुत्व की या हिन्दु– राज की स्थापना के लिए प्रयासरत हैं। एक लाख पचास हजार से भी ज्यादा समर्थक जो कार–सेवकों (स्वैच्छिक कार्यकर्ता) के रूप में थे अयोध्या में एकत्रित हुए और वहां पर उन्होने इस तीन गुम्बद वाली मस्जिद को नेस्तानाबूद कर दिया। (हयूमन राइट्स वाच, 1996)।

यह नोट करना अत्यन्त ही रूचिकर है कि बाहरी मस्जिद ढहाये जाने के बाद के समय में साम्प्रदायिक दंगों की संख्या में कमी आयी है, खासतौर पर बड़े साम्प्रदायिक दंगों में। इस दौर में तीन प्रमुख साम्प्रदायिक दंगे हुए वे हैं कोयम्बटूर (तमिल नाडु) 1997, कानपुर (उत्तर प्रदेश) मार्च 2001, मालेगांव (महाराष्ट्र) अक्टूबर 2001 (इंजीनियर 2001)। हालाँकि बाबरी मस्जिद ढहाये जाने के बाद के दौर में साम्प्रदायिक दंगों में कमी आयी हैं परंतु इसी दौर में आतंकवादी गतिविधियों में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई है और तमिलनाडु राज्य के कोयंबटूर के दंगे के जरिये साम्प्रदायिक विषाणु का विस्तार दक्षिण भारत में भी हुआ। हिंसा का स्थान आतंकवाद ने ले लिया जिससे कि निर्दोष नागरिकों का कत्ल किया जा सके।

भारत में साम्प्रदायिक हिंसा वर्ष 2002 में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। वर्ष 2002 की गुजरात की साम्प्रदायिक हिंसा को मुसलमानों के कत्लेआम के रूप में माना गया। 28 फरवरी एवं 2 मार्च के बीच लगातार तीन दिनों तक साम्प्रदायिक हिन्दुओं द्वारा बदले की भावना से की गयी हत्याओं में सैकड़ों लोग मारे गये

तथा दसियों हजार लोग बेघर हो गये तथा अपने घर एवं सम्पत्ति से बेदखल कर दिये गये। यह इस दशाब्दी का सबसे वीमत्स खून खराबा था। मुसलमानों के घरों, दुकानों, होटलों और इबादत के स्थानों को बड़े पैमाने पर लूटा तथा फूँका गया। भारत में यह अत्यन्त दुखदायी बात रही है कि लगातार और एक लम्बे समय से अल्पसंख्यकों के ऊपर हमले होते रहे हैं और साथ ही भारत में साम्प्रदायिक हिंसा की पहले घटित हुई बड़े पैमाने की घटनाओं, गुजरात में मुस्लिम औरतों और लड़कियों का अंग–भंग करके जलाकर मार डालने से पहले उनके साथ बलात्कार करने की घटनाओ ंकी तादाद–अत्यन्त ही कष्टदायी तथा दुःखपूर्ण है। आधिकारिक रिकार्डों के मुताबिक 27 फरवरी 2002 से गुजरात में 850 से भी ज्यादा लोगों की साम्प्रदायिक हिंसा में कत्ल कर दिया गया जिनमें ज्यादातर मुसलमान हैं। गैर अधिकारिक आकलन के मुताबिक यह तादाद 2000 के भी ऊपर है। (हयूमन राइट्स वाच, 2002)।

भारत में आजादी प्राप्त होने के बाद के दौर में यह पाया गया है कि धर्म से सम्बन्धित किसी मसले को लेकर दो समुदायों के बीच में जब भी दंगे शुरू हुये, यह या तो किसी धार्मिक स्थान को अपवित्र करने, या धार्मिक पहचानों को नष्ट करने अथवा इन संदर्भों में अफवाह फैलाने से संघर्ष का रूप लेते रहे हैं। इन दोनों समुदायों के बीच कट्टरपंथ के पैदा होने तथा फैलने ने आजाद भारत में साम्प्रदायिकता को तुलनात्मक रूप में ज्यादा हवा दी है। यहां यह देखा तथा समझा जाना चाहिए कि क्या देश की कुल आबादी के 82 फीसदी हिन्दु 12 फीसदी मुसलमानों के खिलाफ हैं ? क्या ऐसा ही है ?

हिन्दु और मुस्लिम के बीच सामूहिक झड़पो–संघर्षों के पीछे कार्यरत गतिदायक बल को केवल धर्म और जाति के ही दायरे में न खोजकर अन्य भौतिक पहलुओं जैसे आर्थिक संसाधनों एवं राजनैतिक ताकत आदि के बँटवारे आदि में भी खोजना चाहिए। पाकिस्तान का निर्माण भी मूलरूप में इस्लाम या इस्लाम की

शिक्षाओं द्वारा प्रेरित नहीं था बल्कि उस समय के राजनैतिक हालात की डायनेमिक्स के द्वारा प्रेरित था।

शांति कैसे कायम हो ?

यह दर्ज करना अहम है कि भारतीय समाज शताब्दियों से एक बहु–धार्मिक, बहु–भाषी एवं बहु–सांस्कृतिक समाज के रूप में रहा है। भारतीय–भूमि में सहिष्णुता एवं सहनशीलता की ताकतें हमेशा से मजबूत रही हैं। अन्य लोगों के अलावा सम्राट अशोक एवं अकबर सहिष्णुता तथा अन्य धर्मों के प्रति उदारता–खुलेपन के महान प्रतीकों के रूप में रहे हैं। पूरे मध्यकालीन दौर में पुरोहितों के बीच में धर्मांधता एवं संकीर्णता होने के बावजूद भी, बड़ी मुश्किल से किसी प्रकार की अन्तर–धार्मिक फसादों की मिसाल मिलती है। इसी दौर में कबीर जैसे कवियों ने घर्मांधता एवं धार्मिक संकीर्णता को बेनकाब किया था।

इसी प्रकार, सूफी एवं भक्ति आन्दोलनों ने आपस में जोड़ने वाले सेतु की भूमिका निभायी। इन लोगों ने प्रभावशाली तरीके से न केवल संकीर्ण पुरोहितवाद और कठमुल्लापन को बेनकाब किया बल्कि प्यार और मानवता का संदेश बड़े पैमाने पर प्रचारित–प्रसारित किया। यह सूफी एवं भक्ति संत धार्मिक कर्मकाण्डों–परम्पराओं वाली धार्मिकता की तुलना में ज्यादा आध्यात्मिक (रूहानी) थे। इन सन्तो का पूरा का पूरा जोर प्यार, शांति और भाईचारे पर था। इन संतो की जड़ें अर्थात बुनियादी आधार सामान्य लोगों, गरीबों तथा ऐसे लोगों के बीच में था जो जातिवादी व्यवस्था में निम्न जातियों के लोग माने जाते हैं। इन संतों ने शासकों तथा शासक वर्ग से हमेशा दूरी बनाये रखी ।

यह नोट करना महत्वपूर्ण है कि यह (साम्प्रदायिकता या साम्प्रदायिक हिंसा) हितों का द्वंद है और यह हितों की खींचतान समाज में अशांति और साम्प्रदायिक तनाव को जन्म देती है, इसे धर्मों के द्वंद के रूप में नही देखा जाना चाहिए। धर्म आपस में टकराते नहीं हैं, यह निहित स्वार्थ हैं जिनके बीच टकराहट होती

है। मध्यकालीन भारत में धार्मिक समुदाय राजनैतिक तौर पर संगठित नही थे, वे खासतौर पर एकदम अलग अलग थे लेकिन एक दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण नहीं थे। ऐसा इसलिए था क्योंकि इन्हे (धार्मिक समुदायों को) किसी प्रकार राजनैतिक क्रियाकलाप नहीं करने थे और न इनकी कोई राजनैतिक महत्वाकांक्षा थी।

एक तरफ औपनिवेशीकरण की घटना तथा दूसरी तरफ संसदीय लोकतंत्र की व्यवस्था की स्थापना ने धर्म एवं धार्मिक समुदायों के राजनीतिकरण का रास्ता बनाया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्तर–धार्मिक विवाद या संघर्ष वास्तव में अन्तर–राजनीतिक संघर्ष हैं। तमाम राजनीतिक पार्टियां किसी धार्मिक समुदाय विशेष में अपना वोट बढ़ाने के लिए किसी दूसरे धार्मिक समुदाय को अपने निशाने पर रखती हैं और अपने आपको अपने समुदाय का 'चैम्पियन' बताने के लिए ऐसा करती हैं। हकीकत तो यह है कि यह दल अपने निहित राजनीतिक स्वार्थों के 'चैम्पियन' हैं, न कि किसी समुदाय विशेष के हितों के ।

भारत में इस तरह का साम्प्रदायिक बँटवारा मुख्य तौर पर औपनिवेशिक तन्त्र की देन है। इसने अन्ततः हमारी मातृभूमि का बँटवारा करा डाला। यह राजनीतिक साजिश भारत के लोगों का नासूर बन गयी है इसका शिकार बहुसंख्यक हिन्दु हुए हैं जो यह मान बैठे हैं कि देश के बँटवारे के लिए मुसलमान जिम्मेदार हैं। एक धार्मिक समुदाय के रूप में मुसलमान इस बँटवारे के लिए जिम्मेदार नहीं हैं, बल्कि मुट्ठीभर उच्च वर्गीय मुसलमान ब्रितानी उपनिवेशवाद से तालमेल बैठाकर इस साजिश के लिए जिम्मेदार रहे हैं वास्तव में इस बँटवारे की वजह से आम मुसलमान आज भी मुसीबतों और तकलीफों का सामना कर रहा है।

दक्षिणपंथी हिन्दुवादी राजनीतिज्ञों ने हिन्दु वोटों पर निगाह जमाकर देश के बँटवारे के मसले का लगातार दुरूपयोग किया है और अकसर इस मसले का इस्तेमाल साम्प्रदायिकता को भड़काने के लिए किया है। इस तरह की हिंसा एक वीमत्स रूप में 8 वीं

दशाब्दी में आजाद भारत में देखने को मिली। आजाद भारत में हुए अधिकांश प्रमुख दंगे वर्ष 1980 से वर्ष 1992–93 के बीच हुए। इसके लिए कई कारण जिम्मेदार हैं। 8 वीं दशाब्दी के समय का मतलब है कि आजादी मिलने के बाद के लगभग 40 साल का समय। तब की तुलना में आज, लोकतांत्रिक प्रक्रियायें मजबूत हुई हैं, अल्पसंख्यकों एवं समाज के अन्य कमजोर वर्गों के बीच में और ज्यादा लोकतांत्रिक जागरूकता आयी है और आज यह तबके सत्ता में अपनी हिस्सेदारी सुनिश्चित कराने की माँग को लेकर ज्यादा बेहतर ढंग से संगठित हुए हैं।

उच्च जाति (सवर्ण) के हिन्दु यह महसूस कर रहे हैं कि आगे आने वाले सालों में अल्पसंख्यकों और निम्न जाति के हिन्दुओं (दलितों) को सत्ता में ज्यादा हिस्सेदारी देनी पड़ेगी। अतएव, उच्च जाति के हिन्दु अभिजात्य वर्ग के राजनीतिक एवं आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली भारतीय जनता पार्टी (बी0 जे0 पी0) ने खतरे की घण्टी बजाते हुए अल्पसंख्यकों एवं दलितों के खिलाफ कुत्सिल कुप्रचार का अभियान छेड़ दिया। इन कुप्रचारों, झूठ एवं अफवाहों के सुनियोजित अभियान ने साम्प्रदायिक और जातिवादी तनावों को बहुत बढ़ा दिया। भारतीय जनता पार्टी ने राम–जन्म भूमि विवाद को हिन्दु वोट इकट्ठा करने के एक अमोघ अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया (इसे एक महत्वपूर्ण प्रतीक के रूप में इस्तेमाल किया) और अन्ततः वर्ष 1999 में सत्ता की सवारी करने में कामयाबी हासिल की और उनकी सत्ता वर्ष 2004 तक बनी रही।

संघ परिवार जिसमें राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ (आर0 एस0 एस0) विश्व हिन्दु परिषद (वी0 एच0 पी0) और भारतीय जनता पार्टी (बी0 जे0 पी0) शामिल हैं, ने अपने शासन काल में धर्मनिरपेक्षता को कमजोर करने और भारत का हिन्दुकरण करने का प्रयास किया। गुजरात का जन–संहार (2002) ऐसे समय में हुआ था जब केन्द्रीय स्तर पर एवं गुजरात राज्य के स्तर पर–दोनों जगह भारतीय जनता पार्टी (बी0 जे0 पी0) की सरकारें थीं। गुजरात के

वर्ष 2002 के इस जन–संहार में आधिकारिक तौर पर 1000 एवं गैर आधिकारिक तौर पर 2000 मुसलमानों के निर्मम कत्लेआम की रिपोर्टें हैं। अन्तर–धार्मिक हिंसा भारतीय जनता पार्टी के शासनकाल में अपने सर्वोच्च स्तर पर पहुँच गयी। इसका कारण भारतीय जनता पार्टी (बी0 जे0 पी0) की वह राजनीति है जो अल्पसंख्यकों से नफरत के सिद्धांत पर आधारित है।

भारतीय जनता पार्टी (बी0 जे0 पी0) के ही शासनकाल में ईसाई अल्पसंख्यकों के ऊपर भी हमले आरंभ हुए। पूर्वी भारत के उड़ीसा प्रान्त में आदिवासियों के बीच कोढ़ियों के लिए काम करने वाले आस्ट्रेलियाई ईसाई पादरी जेम्स स्टेंस को उनके दो छोटे बच्चों के साथ जिंदा जला दिया गया। कई ईसाई पादरी और ननों को भी हमला करके मार डाला गया। यह धर्म निरपेक्ष भारत के लिए काला समय था।

लेकिन यह उल्लेखनीय है कि भारत के लोगों ने भारतीय जनता पार्टी (बी0 जे0 पी0) को उसकी साम्प्रदायिक ज्यादतियों के नाते सत्ता की कुरसी से बेदखल कर दिया और वर्ष 2004 के आम चुनावों में कांग्रेस की अगुआई में गठित यू0 पी0 ए0 (युनाइटेड प्रोग्रेसिव एलांयन्स–संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन) के पक्ष में मतदान करके उसे सत्ता तक पहुँचाया। इस तरह भारत के नागरिकों ने एकबार फिर से सिद्ध कर दिया कि वे धर्म निरपेक्ष हैं, सहिष्णु–सहनशील हैं, साथ ही वे साम्प्रदायिक भाई–चारा चाहते हैं और उनकी चाहत है एक बेहतर अन्तर–धार्मिक रिश्तों की। हालाँकि कोई यह नजरिया पेश कर सकता है कि सीधे तौर पर अन्तर–धार्मिक सम्बन्ध देश में मौजूद राजनैतिक 'डायनेमिक्स' पर आश्रित होता है।

इस प्रकार, समग्रता में यह कहा जा सकता है कि भारत का आम नागरिक शांतिपूर्ण–सह अस्तित्व का हिमायती है और वह देश में साम्प्रदायिक खून–खराबे का समर्थक नहीं है।

आर्थिक विकास का सबसे कमजोर पक्ष है देश में बेइंतहा गरीबी। उन 139 देशों में भारत का 137 वाँ स्थान है जहाँ पर एक सर्वे के द्वारा कुपोषण तथा भूख के कारण होने वाली मौतों के आँकड़े इकट्ठा किये गये थे। इस तरह की चौंकाने वाली गरीबी राजनीतिक व्यवस्था की ही देन है।

शासकवर्ग इस तरह की भीषण समस्याओं से लोगों का ध्यान हटाने के लिए जाति एवं साम्प्रदायिकता के मुद्दों को उठाता या उठवाता है। बहुत से राजनीतिज्ञ मुद्दा आधारित राजनीति के बजाय सम्प्रदाय आधारित राजनीति करने में अपने आपको ज्यादा सहज पाते हैं। गुजरात का वर्ष 2002 का जन–संहार ऐसे समय में हो रहा था जब भारतीय जनता पार्टी (बी0 जे0 पी0) की सरकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौतों पर हस्ताक्षर करने में लगी थी और व्यवस्था का उदारीकरण करने में लगी थी जिससे कि मुट्ठीभर आर्थिक रूप से सम्पन्न अभिजात वर्ग को फायदा दिलाया जा सके।

अतएव आगे आने वाले सालों में भी अन्तर–जाति एवं अन्तर–सम्प्रदाय के रिश्तों के ठीक–ठाक होने की उम्मीद नहीं की जा सकती क्योंकि निश्चित तौर पर शासक वर्ग आम लोगों का वोट हासिल करने के लिए भावनात्मक मुद्दों को उछालेगा और लोगों की समस्यायें हल करने में दिलचस्पी नहीं लेगा और न ही आम लोगों की जिंदगी की समस्याओं को हल ही करेगा। राजनीति को भावनात्मक एवं साम्प्रदायिक बनाने की प्रकिया को मीडिया का भी समर्थन प्राप्त है, क्योंकि मीडिया भी राजनैतिक एवं आर्थिक अभिजात वर्गों के नियंत्रण में है।

संघ परिवार जिसमें राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ (आर0 एस0 एस0), विश्व हिन्दु परिषद (वी0 एच0 पी0) तथा भारतीय जनता पार्टी (बी0 जे0 पी0) शामिल हैं, ने भारतीय जनता पार्टी (बी0 जे0 पी0) के 6 साल के शासन काल में अपने आधार को ठोस आकार दिया है, अनुशासित कैडर तैयार किये हैं और इस प्रकार राजनीति के

साम्प्रदायीकरण एवं साम्प्रदायिक हिंसा भड़काने की अपनी क्षमता में काफी बढ़ोत्तरी कर ली है। लेकिन इनके मुखालिफ काम करने वाली ताकतें भी हैं जो धर्मनिरपेक्षता पर आधारित लोकतंत्र की पक्षधर हैं।

किसी समय निम्न जातियों (दलितों) का इस्तेमाल में उच्च जातीय हिन्दु (सवर्ण) करते थे तथा उन्हे भाव विभोर कर देने वाले भावनात्मक प्रचार के जरिये अपनी तरफ मिला कर रखते थे लेकिन उनके (दलितों के) बीच में आज संघ परिवार विरोधी प्रवृत्ति है और वे आज संघ विरोधी ताकत के रूप में हैं। यह दलित वर्ग उच्च जातीय अभिजात वर्ग की राजनीति का शिकार रहा है और इनके नेता साम्प्रदायिकता की राजनीति का विरोध करते हैं जिससे कि उनकी जाति का झुकाव–जुड़ाव उनकी तरफ बना रहे। दलितों के बीच शिक्षा के प्रसार तथा लोकतांत्रिक अधिकारों की जागरूकता के विस्तार ने उनमें जातीय जागरूकता के भाव को तेजी से बढ़ाया है।

हालांकि दलित और अल्पसंख्यक शिक्षा के मामले में बहुत पीछे हैं परंतु ज्यादा से ज्यादा दलित एवं अल्पसंख्यक शिक्षित होने की प्रक्रिया में लगे हैं साथ ही साथ यह दोनों अपने राजनीतिक हकों के बारे में भी जागरूक हो रहे हैं। दलितों एवं ओ0 बी0 सी0 (अन्य पिछड़ी जातियों) के बीच बढ़ती व्यापक राजनीतिक चेतना, साम्प्रदायिक राजनीतिज्ञों के लिए बहुत ही चुनौतीपूर्ण होगी क्योंकि राजनैतिक जागरूकता के बाद इन वर्गों को साम्प्रदायिक एवं धार्मिक भावनाओं के आधार पर बहलाना–फुसलाना आसान नहीं होगा।

एक अन्य महत्वपूर्ण कारक है– भूमण्डलीकरण। जहां तक साम्प्रदायिक स्थितियों का सवाल है यह (भूमण्डलीकरण) परस्परविरोधी प्रभावों को पैदा करता है। एक तरफ तो यह इस बात पर जोर देता है कि धार्मिक एवं सांस्कृतिक पहचानें अलग–अलग होते हुए भी एकरूप वैश्विक प्रक्रियाओं को आत्मसात

करें वहीं यह दूसरी तरफ शिक्षित मध्यम वर्ग के लिए आर्थिक अवसरों के दरवाजे खोलता है और उन्हे बाहर जाने (माइग्रेशन) के अवसर पैदा करके समुदाय आधारित मौलिकता को कमजोर करता है, सिकोड़ता है।

यह भी नोट करना महत्वपूर्ण है कि आज मुसलमानों के बीच में इस बात की जागरूकता में बढ़ोत्तरी हुई है कि शिक्षा एवं बेहतर आर्थिक अवसरों का फायदा उठाकर कठिन प्रयास करते हुए अपनी हालात को अच्छा बनाया जाय, साथ ही ऐसे जज्वाती मसलों को टाला जाय जो केवल बर्बादी का सबब बनते हैं। रामजन्म–भूमि की राजनीति में फँसकर काम करने से बहुत नुकसान हुआ है। यदि कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाय तो अब मुसलमान अपने पीछे के दौर के साम्प्रदायिक रूझान को भूलना चाहता है और अपने आपको एक बेहतर भविष्य के लिए एक खुशहाल जिदंगी के लिए तैयार कर रहा है। अब मुसलमानों के मन में भारतीय लोकतंत्र के प्रति एक विश्वास पैदा हुआ है और वे अपने अधिकारों को हासिल करने के लिए सुनियोजित प्रयास कर रहे हैं। लोकतांत्रीकरण की प्रकिया में आयी तेजी की वजह से उनमें अपने अधिकारों को पाने की ललक तथा विश्वास में भी बढ़ोत्तरी हुई है।

भारतीय नागरिकों के बीच में साम्प्रदायिक ताकतों की साख लगातार गिरी है। इन साम्प्रदायिक तत्वों के पास उपलब्धि के नाम पर बताने के लिए कुछ भी नहीं है, सिवाय साम्प्रदायिक आलाप और खून खराबा के। सत्ता में आने से पहले इन्होंने दावा किया था कि वे अन्य सरकारों से अलग तरह के होंगे और भ्रष्ट नहीं होंगे। लेकिन अभी तमाम ऐसे घोटाले (उनके शासन काल के समय के) सामने आ रहे हैं जिनमें इनके नेता शामिल रहे थे। इस (भ्रष्टाचार के मुद्दे पर) मामले में भी वे अपनी जमीन तथा साख खो चुके हैं।

अतएव ऐसा लगता है कि आगे आने वाले सालों में साम्प्रदायिक

ताकतों को अपनी जमीन दुबारा बना पाना एक बहुत ही मुश्किल भरा काम होगा और निश्चित तौर पर साम्प्रदायिक राजनीति कमजोर होगी। हालाँकि यह बहुत कुछ धर्म निरपेक्ष ताकतों की अपनी कारगुजारियों पर भी आश्रित होगा कि वे कितना और किस प्रकार धर्म निरपेक्षता को मजबूत करते हैं। साम्प्रदायिक ताकतें अपनी अन्तर्निहित सामर्थ के बल पर उतना कामयाब नहीं होतीं जितना धर्म निरपेक्ष ताकतों की कमजोरी का फायदा उठाकर वे आगे बढ़ती हैं और अपनी ताकत को मजबूत करती हैं। साम्प्रदायिक ताकतें तभी कुछ हासिल कर पाती हैं जब धर्म निरपेक्ष ताकतें अपने प्रयासों एवं कार्यों में असफल रहती हैं। ऐसा लगता है कि साम्प्रदायिक ताकतें आगे आने वाले 30 सालों में अपना आधार खो देंगी और यह देखने में आयेगा कि लोगों की एक जबर्दस्त इच्छा है कि सह–अस्तित्व को मजबूत किया जाय तथा आगे आने वाले सालों में भाई–चारे के साथ जीवन जिया जाय।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अल्पसंख्यकों की आर्थिक बेहतरी और तालीमी तरक्की, लोगों को साम्प्रदायिकता के नफरत एवं बँटवारे के कारनामे वाले चरित्र के बारे में जागरूक करके, धर्म निरपेक्ष ताकतों को मजबूत बनाकर और राजनीतिज्ञों के बेजा कारनामों को बेनकाब करके– साम्प्रदायिकता को हराया जा सकता है।

8

विवाद एवं बातचीत

'शांतिपूर्ण पारस्परिक सह अस्तित्व' के सिद्धांत में विश्वास रखने वालों के लिए एक ऐसी दुनिया जो शांतिपूर्ण हो अमन चैन से लैश हो, एक काल्पनिक विचार नहीं हैं। हालांकि इस मकसद को हासिल करने के लिए यह जरूरी है कि विवाद के चरित्र, रूप–स्वरूप को जाना समझा जाय और इसके समाधान के तौर तरीकों को तय किया जाय। यह भी एक अहम मसला है कि विवादों के कारणों, कितने तरह के विवाद हैं के साथ ही साथ यह भी समझा जाय कि वे निहित स्वार्थ कौन से हैं जो विवादों को कायम रखने में लगे हैं और यथास्थिति बने रहने से फायदा उठा रहे हैं। इसके अलावा यह भी समझने की जरूरत है कि विवादों की हमें कितनी सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक कीमत चुकानी पड़ती है और विवादों के समाधान तथा शांति बहाली के फायदे कितने हैं।

शांति, अमन–चैन में खलल पैदा होने का बुनियादी कारण विवाद है। यदि हम ऐसी दुनिया चाहते हैं जहां शांति तथा अमन चैन हो तो विवादों के शिकार पक्षों को बातचीत के लिए तैयार करना, बातचीत कराना–शांति बहाली का एकमात्र रास्ता है। इसलिए बातचीत पारस्परिक सहअस्तित्व की चाभी है।

एकरूपता एवं मानकीकरण की पुरानी सोच ने विभिन्नता, अलग–अलग रूपों और बहुलतावाद जैसी नयी अवधारणा के लिए रास्ता साफ किया। 'लोकतान्त्रिक राजनीति' के उच्च स्तर की मान्य अवधारणा के अन्तर्गत बहुलतावाद एक दिशा निर्देश

देने वाली ताकत की तरह काम करता है और पहचान में विभिन्नता होने या अन्तर होने के बावजूद भी पारस्परिक सहअस्तित्व की अनुमति देता है। इस समझ का मूल इस बात में पूरी तरह से भरोसा रखने में है कि 'तीखे विवाद एवं बातचीत' की प्रक्रिया हमें उस तरफ ले जायेगी जहां हम ऐसे 'सर्व सामान्य हितों' (सर्व सामान्य शुभ) को महसूस कर सकेंगे जो समाज के सभी हिस्सों–सदस्यों के लिए सबसे ज्यादा उपयुक्त होगा।

विवाद होता क्या है ?

विवाद को इस रूप में समझा जा सकता है कि यह जरूरतों, मूल्यों या हितों का वास्तविक या किसी खास ढंग से समझकर किया गया विरोध है। सामाजिक जीवन में इस तरह के उकसावेपूर्ण एवं अपमानजनक, पक्षों जैसे हितों में मतभेद (द्वंद), सामाजिक असहमति और व्यक्तियों, समूहों या संगठनों में जारी संघर्षों आदि को, इस समझ की समुचित जानकारी के आधार पर विश्लेषित–व्याख्यायित करना बहुत ही महत्वपूर्ण है। मतभेदों के बारे में समझ पर ठीक ठाक पकड़ हमें उस तरफ ले जाती है जहां हमें 'राष्ट्रों' के बीच जारी संघर्षों के बुनियादी कारणों को जानने की जरूरत महसूस होती है। इससे हमें संभावित घटनाओं या संभावित परिणामों के रोकथाम के रास्तों की प्राप्ति में सहायता मिल सकती है।

बातचीत क्या है ?

बातचीत या वार्तालाप ''सावधानीपूर्वक निर्मित एक संवाद कायम करने की तकनीक'' है। परस्पर विरोधियों की समझ को जानने के लिए यह तकनीक बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। वार्तालाप या बातचीत ने तमाम ऐतिहासिक मौकों जैसे शीत युद्व की समाप्ति आदि में हिंसा एवं खून खराबे की रोकथाम में अपनी उपयोगिता को सिद्व किया है। यहां तक कि मध्यपूर्व में आसानी से पकड़ में न आने वाली शांति का पीछा अकसर बातचीत की प्रक्रिया के द्वारा ही किया गया।

बातचीत, औपचारिक संवाद एवं तर्क–वितर्क में अन्तर :

बातचीत या वार्तालाप औपचारिक संवाद का समानार्थी मात्र नहीं है। बातचीत या वार्तालाप संवाद का वह रूप है जिसके तहत विभिन्न तरीकों एवं तमाम जानकारियों को जानने समझने एवं उन्हे खोजने पर विशेष जोर दिया जाता है। शामिल दोनों पक्षों के हितों को इस प्रक्रिया में समाहित किया जाता है और दोनों पक्षों की समझदारी के आधार पर आगे बढ़ने के लिए एक साझा खाका तैयार किया जाता है।

बातचीत या वार्तालाप तर्क–वितर्क से भी अलग अर्थ रखता है। वार्तालाप में हम इस हकीकत को अच्छी तरह जानते समझते तथा स्वीकार करते हैं कि लोगों के नजरियों में फर्क है। फिर भी उसी जगह हम यह भी विश्वास करते हैं कि विचाराधीन मतभेद का ऐसा समाधान भी मौजूद है जो कि दोनों पक्षों द्वारा पारस्परिक रूप से स्वीकार्य हो सकता है। बातचीत या वार्तालाप का फौरी मकसद ऐसे ही समाधान तक पहुंचना या उसे ढूंढ़ना है।

बातचीत या वार्तालाप में अलग–अलग तत्व शामिल होते हैं जैसे बातचीत के दौरान ऐसी बातों को नजरंदाज करना जो अलगाव के अहसास को बढ़ावा देती हैं तथा ऐसे तत्वों पर ध्यान देना जो साझे हित के हैं, और मामला विशेष से शुरूआत करके मतभेद (द्वंद) के मूल मुद्दों तक पहुंचने का काम करना।

क्या है विवाद समाधान ?

विवाद के स्रोतों (आधारों) को समाप्त करने या कमतर करने की दिशा में आगे बढने हेतु अपनायी जानेवाली विधियाँ और तकनीक, विवाद के हल करने की प्रक्रिया में शामिल होती हैं। विवाद समाधान की प्रक्रिया को मतभेद समाधान भी कहा जाता है। समझौता (किसी मान्य सहमति पर पहुंचने हेतु), मध्यस्थता तथा कूटनीति (राजनय) यह तीनों विवाद समाधान की प्रक्रिया के प्रमुख तत्व हैं।

मध्यस्थता में बातचीत(वार्तालाप) की भूमिका :

विवादग्रस्त पक्षों के बीच चलायी जा रही बातचीत की प्रक्रिया पर, मध्यस्थता या विवाद समाधान की संकल्पबद्वता का विकल्प आधारित होता है। सभी प्रकार के विवादों जिसमें व्यक्तिगत, सामुदायिक, सांगठनिक तथा राज्यों के विवाद शामिल हैं, बातचीत की प्रक्रिया सीधे तौर पर विपरीत विचारों या स्थितियों के बीच तालमेल बैठाने की दिशा की ओर निर्देशित होती है। मध्यस्थता करने वाले प्रायः कारगर कौशल एवं तकनीकों या विधियों का इस्तेमाल करके बातचीत की प्रक्रिया की शुरूआत करने का रास्ता बनाते हैं, जिससे विवाद समाधान की प्रक्रिया को सरल किया जा सके।

''पॉलीटिकल सायकालोजी'' (सितंबर 1983, पृष्ठ 450) में अपने प्रकाशित सारगर्मित लेख—'कानफ्लिक्ट रिजोलुशन' में मार्टन ड्यूश टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि सामान्यतया ऐसे थोड़े से विवाद हैं जिन्हें 'हार—जीत विवाद' की कोटि में रखा जा सकता है, अधिकांश विवादों का हल 'जीत—जीत' के नजरिये से करने की कामयाबी के लिए ''समस्या समाधान की समझ सहयोगपूर्ण होनी चाहिए जिसका खास सरोकार विभिन्न पक्षों के हितों से हो (उनकी हैसियत या औकात से नहीं)''

विवादों के समाधान की प्रक्रिया के सिलसिले में बातचीत की महत्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित करते हुए ड्यूश तर्क देते हैं कि ''एक पूर्णतया, खुले, ईमानदार और आपसी तौर पर सम्मानजनक संवाद को बढ़ावा दिया जाना चाहिए, जिससे कि सम्बन्धित पक्ष अपनी बातों को साफ—साफ रख सकें और एक दूसरे की भावनाओं एव हितों को समझ सकें।''

विवादों के प्रकार

विवाद व्यक्तियों, समुदायों या राष्ट्रों के बीच हो सकता है। विवाद का स्वरूप आर्थिक, भावनात्मक या सैद्धांतिक हो सकता है। समाज के बीच, व्यक्तिगत रिश्तों के बीच, सैन्य, राजनयिक,

सांगठनिक और रिश्तों के बीच होने वाले विवाद, विवाद के कुछ उदाहरण हैं। अन्तर राज्यीय विवाद जैसे कि गृह युद्व और चुनाव अभियान आदि विवाद सामान्यतया घटित होते रहने वाले विवादों की कोटि में आते हैं। और सामान्यतौर पर या अकसर घटित होने वाले विवादों में वे विवाद शामिल हैं जिनका मूल आधार धार्मिक विवाद है, इस तरह के विवादों ने मानव जाति के इतिहास को बार–बार कलंकित किया है। आज की मौजूदा दुनिया में पर्यावरण के स्रोतों पर विवाद, सांगठनिक विवाद, कार्यस्थल का विवाद और अन्तर्राष्ट्रीय विवाद–सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण विवादों में हैं।

सूक्ष्म (छोटे) स्तर पर जब विवाद दो व्यक्तियों के बीच होता है तो विवाद के पक्ष साफ तौर पर सामने होते हैं। लेकिन जब हम सूक्ष्म स्तर से व्यापक(बड़े) और ज्यादा व्यापक स्तर की तरफ बढ़ते हैं तो विवाद में शामिल पक्षों की पहचान करना लगातार मुश्किल से और ज्यादा मुश्किल होता जाता है।

विवाद के कारण

दो पक्षों के बीच विवाद कई बातों पर आधारित हो सकता है जैसे आर्थिक हित, धर्म, नस्ल, परम्पराओं या लिंग आदि। साथ ही साथ विवाद का स्वरूप सैद्वांतिक मतभेदों को लेकर भी हो सकता है। पर्यावरणविदों का विवाद ऐसे लोगों से हो सकता है जो तीव्रगति से किये जाने वाले विकास की अवधारणा के समर्थक हैं। इसी तरह समाजवादी पूंजीवाद के साथ विवाद में अपने आप को शामिल पा सकते हैं। किसी खास ढंग से देखे गये राज्यों के 'राष्ट्रीय हित,' प्रायः 'राष्ट्र राज्यों' के बीच पैदा होने वाले विवादों के बुनियादी कारण होते हैं।

सूक्ष्म या छोटे स्तर पर, विवाद का कारण संवाद की असफलता हो सकता है–व्यक्तित्व में मतभेद और लक्ष्य में अन्तर आदि हो सकता है। इस तरह के विवादों के कारणों में पारस्परिक सहयोग में कमी और सत्ता के संदर्भ में अलग–अलग समझ भी शामिल है।

व्यापक स्तर पर विवादों के प्रमुख कारणों में है– संसाधनों पर कब्जा, नस्ल एवं धर्म में भेद तथा मूल्यों (सामाजिक/धार्मिक) में भेद। जब मूल्य (सामाजिक/धार्मिक) विवाद के मूल में होते हैं, मूल कारण होते हैं तो ऐसी हालात में इस तरह के विवादों को हल कर पाना बहुत ही कठिन होता है।

विवाद समाधान की प्रक्रिया का पहला महत्वपूर्ण कदम है– विवाद के स्वरूप की पहचान करना– यह समझना कि विवाद यदि मूल्यों को लेकर है तो उसे सही या गलत सिद्व करना बहुत ही कठिन होता है। इस तरह के विवादों की कोटि में धार्मिक या सैद्वांतिक विवादों को रखा जा सकता है। इस तरह के विवादों को हल करने के लिए ऐसे फेसिलिटेटर (सहजकर्ता) की मदद ली जानी चाहिए जो कि विवाद के विशिष्ट(खास) स्वरूप की पहचान कर सके। अहिंसा के सिद्वांत पर अमल करने वालों ने इस तरह के विवादों के हल के लिए कई तरह की नयी विधियों तथा कार्यनीतियों को विकसित किया है। बातचीत (वार्तालाप) इस तरह की कार्यनीतियों और तकनीकों का एक जरूरी अभिन्न हिस्सा है।

विवाद समाधान की विधियां :

अधिकतर विवादों की जड़ में हितों का टकराव होता है जो इन विवादों को जन्म देता है। ऐसी हालात में विवाद समाधान के लिए यह जरूरी है कि वह प्रयास कार्यनीति की समझ पर आधारित हो, जिसमें किसी की अपनी इच्छाओं–सरोकारों को अभिव्यक्ति प्रदान की जाय, साथ ही साथ उसी समय दूसरे पक्ष के सरोकारों को भी गंभीरता से समझा जाय। इस तरह के विवादों को हल करने की कार्यनीति 'जीत–जीत' की समझ पर आधारित होनी चाहिए।

मानव सभ्यता के आदिम कालीन युग वाली दुनिया में ताकतवर की इच्छायें ही हमेशा चलती थीं क्योकि विरोधी पक्ष को केवल शारीरिक ताकत के ही बल पर खामोश कर दिया जाता था। फिर

आगे चलकर जब तथा आज जब हम आधुनिक युग तक पहुंचे हैं तो आज लोगों के बीच रिश्तों में जटिलतायें काफी हद तक बढ़ गयी हैं। ऐसी हालत में ताकत सभी बुराइयों का हल नहीं रह गया है। कुछ मामलों में जहां पर कोई अन्याय, अपराध या गलती करता है, वहां पर कानूनी एजेंसियों को ताकत का प्रयोग करने की इजाजत दी जा सकती है। लेकिन यह इजाजत भी समाज में कानून–व्यवस्था बनाये रखने के इरादे से दी जाती है।

आज यह आमतौर पर स्वीकार कर लिया गया है कि लोगों और समुदायों के बीच चलने वाली हिंसा का मूल चरित्र लोगों के जीवन को नष्ट या दूषित कर देता है। ताकत के इस्तेमाल की प्रवृत्ति को छिपी–गूढ़ समस्या के समाधान में देरी के रूप में बेहतरीन ढंग से व्याख्यायित किया जा सकता है। यहां तक कि जब दो राष्ट्रों के रिश्ते एक दूसरे से असामान्य हो जाते हैं, तब उनके बीच में युद्व के कारण स्थितियों के बद से बदतर होने और आपस में एक दूसरे को दुश्मन बना लेने की संभावना बढ़ जाती है। इतिहास में मौजूद तमाम घटनाक्रमों ने बखूबी इस बात को सिद्ध किया है कि ताकत के इस्तेमाल ने राष्ट्रों के बीच के रिश्तों को अकसर बिगाड़ा है और राष्ट्रों के बीच समस्याओं को बद से बदतर बनाया है। इसके अलावा, हम सभी लोग इस बात के चश्मदीद गवाह हैं कि 'युद्व के सिद्वांत' ने मौजूदा दौर में दुनिया में किस तरह से शांति एवं सौहार्द को तहस–नहस कर डाला है।

अतएव, अगर ताकत का इस्तेमाल सही नहीं है और हम शांति चाहते हैं तो शांति के लिए हमारे पास और कौन–कौन से विकल्प हैं। इसका उत्तर 'बातचीत की ताकत' को समझने और उसे बेहतरीन मानने में समाहित है। मध्यस्थता करने वालों के पास बातचीत एक ऐसा ताकवर औजार हैं जिसका इस्तेमाल सभी प्रकार के विवादों के समाधान तथा उन्हे जड़ से ही समाप्त कर देने के लिए किया जा सकता है।

बातचीत के जरिये विवाद समाधान की प्रक्रिया :

पूरी दुनिया में शांति और अमन–चैन के सपने को हकीकत में बदलने और दो पक्षों में जारी विवाद, चाहे इन पक्षों का स्वरूप व्यक्तिगत, सामुदायिक, नस्लीय या राष्ट्रीय हो– के बीच में मौजूद ऐसे तत्व जो अवांछित हैं से छुटकारा पाने या इस तरह के कष्टों को हल करने की समझ पर अमल करते हुए यह सीखने समझने की जरूरत है कि इस काम के लिए वार्तालाप (बातचीत) का कैसे इस्तेमाल किया जाय ?

समुदाय एवं व्यक्तिगत स्तरों पर विवाद :

व्यक्तिगत एवं समुदाय के स्तरों के विवादों के समाधान की संकल्पबद्धता के लिए स्व–आकलन की समझ की जरूरत होती है। बातचीत या आपसी सम्प्रेषण के पहले अपना स्वयं का आकलन तथा विश्लेषण समुचित ढंग से किया जाना चाहिए। समस्या की जड़ हम में (स्वयं के अन्दर) हो सकती है बजाय इसके कि वह किसी दूसरे व्यक्ति या दूसरे समुदाय में हो। सावधानीपूर्वक, स्वयं पर विचार करना या स्वयं का आभास (रेफलेक्शन) और दूसरों पर केन्द्रित तकनीक की समझ, परिवार एवं अन्य रिश्तों के बीच उत्पन्न विवादों के समाधान में मददगार होती है। यदि कोई ऐसा मसला है जिसकी मूल जड़ में कोई दूसरा है तो उसे यह बताने के लिए पारस्परिक सम्प्रेषण के कौशल का हममें होना जरूरी होता है। चाहे यह किसी संगठन में पारस्परिक–व्यक्तिगत रिश्तों को लेकर उभरे विवाद का हो, पारिवारिक विवादों या समुदायों के बीच उत्पन्न विवादों का मामला हो।

धर्म, नस्ल एवं सिद्धांतों पर आधारित विवाद :

चूंकि धर्म विश्वास एवं श्रद्धा का मामला है अतएव इस तरह के विवादों की कष्ट या पीड़ा को कम करने हेतु इस दिशा में पहला महत्वपूर्ण कदम है विश्वास करने वाले के मनोविज्ञान को अच्छे ढंग से समझना। धर्मों की विभिन्नता तथा उनके बीच के अंतरों के आपसी सामंजस्य की समझ, शांति एवं पारस्परिक

सह–अस्तित्व की, मूल जड़ है। ऐसे मौकों पर तमाम विद्वान, अपने लेखों, शोध पत्रों को आधार बनाकर विभिन्न तबकों से व्यक्तिगत स्तर पर बातचीत–वार्तालाप करके और अलग–अलग धर्मों पर आस्था रखने वालों में उनके साझे हितों का प्रचार–प्रसार करके, एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। यहां पर दूसरों के दृष्टिकोण को प्रर्याप्त महत्व दिया जाना चाहिए साथ ही साथ इस दुनिया के बारे में दूसरों के नजरियों को भी अहमियत, इज्जत दी जानी चाहिए।

सांस्कृतिक विवाद :

विभिन्नतायें लिए हुए विभिन्न संस्कृतियों के बीच विवाद समाधान की प्रक्रिया सबसे अधिक असहमति पैदा करने की संभावना से युक्त होती है। इस तरह के मामलों में दखल देने की एक ही कारगर विधि है और वह है विवादग्रस्त पक्षों के बीच सम्प्रेषण (संवाद) की प्रक्रिया को विकसित करना। जहां पर सम्बद्ध संस्कृतियों की महत्वपूर्ण जरूरतों की पहचान के मसले पर काम किया जा रहा है, वहां यह प्रक्रिया समस्या समाधान को फेसिलिटेट करती है। मध्यस्थता करने वाले का लक्ष्य अकसर 'जीत–जीत' समाधान (अर्थात ऐसे समाधान जिसमें सभी विवादित पक्ष अपने आप को कामयाब मान सकें) ढूंढ़ने का होता है। यह समझ पाश्चात्य संस्कृतियों के संदर्भ में जैसे कनाडा, अमरीका में बहुत ज्यादा कामयाब रही है।

गैर–पाश्चात्य संस्कृतियों जैसे–चीन, वियतनाम, ईरान, ईराक और अफगानिस्तान के संदर्भ में सीधा–संवाद बहुत कठिन सिद्व हुआ है क्योंकि यहां पर विवादित पक्षों के अनुभव बिलकुल अलग–अलग रहे हैं और इन पक्षों ने अलग–अलग और अपने–अपने ढंग से विवाद का अर्थ निकाला है। ऐसी स्थितियों में विवाद समाधान की प्रक्रिया चलाते वक्त आदिवासियों (मूलवासियों), धार्मिक या समुदाय के नेताओं के साथ संवाद (बातचीत–वार्तालाप) करते समय एक तीसरे पक्ष कों भी शामिल करना–एक ज्यादा कारगर तरीका हो सकता हैं। इन स्थितियों

में विवादग्रस्त पक्षों के बीच गहरे स्तर तक कायम आपसी अविश्वास एवं परस्पर एक दूसरे को अपना दुश्मन मानने की प्रवृत्ति की पीड़ा को कम करने के लिए प्रभावशाली कूटनीति को कमतर करके नहीं देखा जा सकता।

''राष्ट्र–राज्यों'' के बीच विवाद :

अकसर यह देखने में आया है कि देशों के बीच कायम रिश्तों को नियंत्रित करने वाली बुनियादी ताकत होती है राष्ट्रीय हित। इस तरह के हितों में टकराहट, राष्ट्रों के बीच पैदा होने वाले विवादों को बढ़ाती है या पैदा करती है। इस तरह के विवाद का स्वरूप या चरित्र आर्थिक, सैद्धांतिक या रणनीतिक हो सकता है। इस तरह के किसी मामले में विवाद समाधान हेतु बातचीत या वार्तालाप का ही रास्ता अपनाये जाने की समझ को अपनाया जाना चाहिए। बातचीत या वार्तालाप का सिद्धांत जिस प्रकार व्यक्तिगत स्तर के विवादों के समाधान के लिए अपनाया जाता है उसी प्रकार यह सिद्धांत राष्ट्रों के बीच जारी विवादों के हल के लिए भी समान रूप में लागू किया जाता है। जब इस तरह की बातचीत की जा रही हो तो स्वतंत्रता, मानव अधिकारों तथा न्याय के व्यापक मूल्यों को खास अहमियत दी जानी चाहिए। इससे दूसरों की समझ और नजरिये को समझने तथा सार्थक बातचीत करने में मदद मिलती है।

विवाद समाधान में वार्तालाप की सीमायें :

यदि हम वार्तालाप या बातचीत की प्रक्रिया पर उत्साह के साथ काम करते है और इसके बाद भी शांति आसानी से पकड़ में नहीं आती है या दूर नजर आती है तो निराश होकर ''शांतिपूर्ण पारस्परिक सहअस्तित्व'' के सिद्धांत के प्रति अविश्वास करने के बजाय हमें थोड़ी देर के लिए रूक कर असफलता के कारणों के बारे में गंभीरता के साथ विचार करना चाहिए। जब वार्तालाप को विवादों को कम करने के लिए एक उपकरण के रूप में लागू किया गया, हो और सफलता न मिली हो तो उस असफलता के पीछे निम्नलिखित कारण हो सकते हैंः–

- ☐ विवादरत पक्षों के सोच–नजरिये के बारे में कारगर समझ की कमी।
- ☐ वार्तालाप में शामिल तीसरे पक्ष का अपना निहित स्वार्थ।
- ☐ मध्यस्थता करने वाली एजेंसी में उत्साह तथा समर्पण की भावना की कमी।

इन उपरोक्त कारणों को गंभीरता से लेकर आगे प्रयास करने से इच्छित परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं और वार्तालाप के द्वारा विवाद समाधान में मदद मिल सकती है।

लम्बे समय से चले आ रहे विवादों जैसा कि इजरायल–फिलीस्तीन विवाद में देखने में आया कि शांति वार्ता में ठहराव आ गया। हालांकि समस्या समाधान की संकल्पबद्वता एक महत्वपूर्ण पक्ष है परंतु जब तक विवाद का अंतिम समाधान न हो जाय तब तक विपरीत विचारों या स्थितियों में सामंजस्य बनाने जैसे बीच के कदमों को या बीच के रास्तों को महत्व देना अत्यन्त आवश्यक है। बार–ताल (तेल–अबीब युनिवर्सिटी) ने ''पालिटिकल सायकालोजी'' (जून 2000, पेज 351) पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख ''फ्राम इनट्रैक्टेबल टू रीकन्सीलिएशंस : सायकालोजिकल एनालिसिस'' में अत्यंत दीर्घकालिक जटिल विवादों के अन्तिम समाधान हेतु समझौतों, वार्तालाप एवं विपरीत स्थितियों एवं विचारों के बीच सामंजस्य स्थापित करने जैसे प्रयासों की भूमिका को जोर देते हुए महत्वपूर्ण बताया है।

डेनियल बार–ताल स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ''अन्तर–समूहों में चलने वाले ऐसे विवाद जिन्हे आसानी से हल नहीं किया जा सकता को इस बात की जरूरत होती है कि एक विवादरत चरित्र का समुदाय में निर्माण किया जाय जो समाज को इस काबिल बनाये कि वे विवादग्रस्त स्थितियों को स्वीकार कर लें, कष्टदायक स्थितियों में भी रह सकें और अपने विरोधी से सफलतापूर्वक लड़ सकें''। आसानी से हल न किये जा सकने

वाले विवादों के बारे में वे फिर कहते हैं कि ''इस तरह के विवादों को समाप्त करने की शुरूआत इस बात से होती है कि विरोधी पक्षों ने अपनी गैर काबिलियत के बारे में जो अवधारणा बना रखी है उसे उनके अन्दर से उखाड़ फेंका जाय, इसके लिए उनके प्रतिनिधियों के बीच में समझौता वार्ता हो– यही विवाद समाधान की प्रक्रिया है।'' और बातचीत या वार्तालाप की प्रक्रिया इस तरह के प्रयासों–समझौतों की बुनियाद है।

निष्कर्ष

यदि सही ढंग से लागू की गयी है तो वार्तालाप या बातचीत की नीति इच्छित परिणाम देने को बाध्य है। और सभी सभ्य लोगों में एक शांतिपूर्ण दुनिया को हासिल करने की चाहत होनी चाहिए जो पारस्परिक सम्मान और शांतिपूर्ण सह–अहस्तित्व की बुनियाद पर टिकी हो। इस प्रकार सभी तरह के विवादों को हल करने के लिए बातचीत एक बुनियादी बात है और सार्थक बातचीत या संवाद के जरिये हमें अपने विवादों के समाधान की कोशिश करनी चाहिए और एक बेहतर तथा शांतिपूर्ण दुनिया के लिए हमें अथक प्रयास करना चाहिए।

पॉपुलर एजूकेशन एण्ड एक्शन सेंटर (पीस) प्रतिबद्ध और अनुभवी लोगों का ऐसा समूह है जो स्थानीय एवं व्यापक स्तर पर सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को मजबूत करने की दिशा में प्रयत्नशील है।

इस क्रम में जीवनयापन के लिए जूझ रहे व्यक्तियों एवं समुदायों और अपनी अस्मिता को बचाए रखने तथा जनतांत्रिक मूल्यों के लिए संघर्षरत जन समूहों की जानकारी एवं ज्ञान में बढ़ोत्तरी करना पीस का मुख्य सरोकार रहा है।

विगत कुछ वर्षों से पीस समान सोच वाले समूहों और जन संगठनों के बीच संवाद की प्रक्रिया चला कर व्यापक स्तर पर चलने वाले जन आंदोलन और गठबंधन की प्रक्रिया को भी मजबूत करने हेतु प्रयत्नशील है।

minority rights group international

सीमित वितरण हेतु
जनहित में
पॉपुलर एजूकेशन एण्ड एक्शन सेंटर (पीस)
ए–124/6, दूसरी मंजिल
कटवारिया सराय, नई दिल्ली–16
द्वारा प्रकाशित
अक्टूबर, 2011